

सिरिकुंदकुंदाइरियविरइय-अट्टपाहडे
(श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-विरचित-अष्टपाहुडगत)

लिंगपाहुडं

(लिङ्गपाहुड)

संस्कृतभाषायां 'नन्दिनीटीका'
(हिंदीअनुवादसहिता)

अर्हं श्री
मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक
आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति
उज्जैन (म.प्र.)

- कृति : लिङ्गपाहुड/लिङ्गपाहुड
- आशीर्वाद/पद्यानुवाद : आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज
- संस्कृत 'नंदिनीटीका'
एवं हिन्दी अनुवाद : मुनि श्री 108 प्रणम्यसागरजी महाराज
- © अधिकार : सर्वाधिकार सुरक्षित
किसी को भी प्रकाशित करने का अधिकार है। किताब का स्वरूप, ग्रन्थ नाम, लेखक, सम्पादक एवं स्तर परिवर्तन न करें। प्रकाशन के पहले लिखित अनुमति अवश्य है।
- संस्करण : प्रथम, अगस्त 2021
- आइएसबीएन : 978-81-953579-4-9
- आवृत्ति : 1100 प्रतियाँ
- पुण्यार्जक : • व्रति, धर्मचन्द जैन, श्रीमती शकुन, श्री महक, श्रीमती निधि
एरिश, एरा जैन, कोरल अपार्टमेंट, श्यामनगर - जयपुर
• श्री जितेन्द्र जैन एवं श्रीमती रूबी जैन, स्वेता, गौरव एवं अतिशय
105/पी, सेक्टर-28, गुरुग्राम (हरियाणा)
- मूल्य : स्वाध्याय
- प्रकाशक : आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति
109, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन,
फोन: 2519071, 2518396
email: sss.crop@yahoo.com
- प्राप्ति स्थान : आर्हत विद्याप्रकाशन
गोटेगाँव, नरसिंहपुर (म.प्र.)
मोबा.: 09425837476
शैलेन्द्र शाह, उज्जैन
09425092483, 09406881001
- मुद्रक : आरसी प्रैस, नई दिल्ली #9871196002

Ācārya Kundakunda's
Liṅgapāhudaṃ
(Liṅgapāhuda)
from
Ācārya Kundakunda's Aṣṭapāhuda

With commentary in Sanskrit
– Nandiṇīṭkā
and translation in Hindi
by
Arham Shri
Muni Praṇamya Sagar

Publisher
Acharya Aklankdev Jainvidya Shodhalay Samiti
Ujjain (M.P.)

- Book Name : **Liṅgapāhuḍam/Liṅgapāhuḍa**
- Blessing/Paddyānuvad : **Acharyashri 108 Vidyasagarji Maharaj**
- Sanskrit Nandnitika
and Hindi Translation : **Munishri 108 Pranamyasagarji Maharaj**
- Copyright : All right reserved. No part can be published without permission
from the publisher.
- Edition : First, August 2021
- ISBN : 978-81-953579-4-9
- Copy : 1100
- Donner : • Varti, Dharam Chand Jain, Smt. Shakun, Shri Mahak,
Smt. Nidhi, Erish, Era Jain, Coral Apartment - Jaipur
• Shri Jitender Jain and Rubi Jain, Shweta, Gaurav & Atishay
105/P, Sector-28, Gurugram (Haryana)
- Publisher : Acharya Aklankdev Jainvidya Shodhalay Samiti
109, Shivaji Park, Devas Road, Ujjain (M.P.)
Ph. : 2519071, 2518396
email: sss.crop@yahoo.com
- Sold by : Arhat Vidhya Prakashan
Gotegaon, Narsinghpur (M.P.)
Ph.: 09425837476
Shailender Shah Ujjain (M.P.)
Ph. : 09425092483
- Printed by : Arcee Press, New Delhi #9871196002

विषयानुक्रमणिका

	गाथा	पृष्ठ		गाथा	पृष्ठ
	नं.	नं.		नं.	नं.
1. प्रकाशकीय		6	21. श्रामण्य भावों से भ्रष्ट श्रमण		
2. आचार्य कुन्दकुन्द परिचय		7	क्या करता है?	13	68
3. अष्टपाहुड/अष्ट पहलू		9	22. मार्ग विरोधी आचरण कर्ता और		
4. आचार्यकुन्दकुन्दविरचित लिङ्गप्राभृत पर			क्या करता है	14	69
मुनिश्री प्रणम्यसागरकृता नन्दिनी टीका		15	23. पुनः उस श्रमण की चेष्टाएं		
5. Foreword		20	कहते हैं	15	70
6. कुन्दकुन्दाष्टकम्		44	24. मोक्षमार्गी के दूसरे कार्य	16	71
7. मुनिप्रणम्यसागराष्टकम्		47	25. कुन्दकुन्द के समय में विरुद्ध		
8. शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण		49	संघ कहाँ सम्भव?	17	72
9. मंगलाचरण	1	51	26. साधु के अयोग्य कुत्सित भाव	18	74
10. ग्रन्थ कहने की विधि	2	53	27. शास्त्रों का जानकार भी भावों		
11. भाव के बिना बाह्य भेषमात्र से			से विनष्ट	19	75
क्या हानि	3	55	28. भाव विनष्ट मुनि की क्रियाएं	20	76
12. मुनि किन कारणों से श्रमण			29. दुराचरण की पराकाष्ठा का		
अवर्णवाद का पात्र	4	57	उल्लंघन	21	77
13. पुनः क्या करता हुआ श्रमण			30. लिङ्गपाहुड के बहाने मुनिमन		
निन्दा को प्राप्त	5	58	को एकाग्र करने की शिक्षा	22	78
14. पुनः मुनि कुचेष्टा	6	59	31. परिशिष्ट 1 - लिङ्गपाहुड-शब्दकोष		80
15. पाप से मुच्छित बुद्धि वाला संसार			32. परिशिष्ट 2 - ज्ञानसागर कृत लिङ्ग		
रूपी वन में भ्रमण करता है	7	60	प्राभृत का पद्यानुवाद		81
16. आर्तध्यान वाला अनन्त संसारी	8	62	33. परिशिष्ट 3 - गाथाओं का मूल पाठ		83
17. मुनि के अशोभनीय कर्म	9	63	34. परिशिष्ट 4 - ग्रन्थ संदर्भ सूची		85
18. पुनः श्रमण के अशोभनीय			35. परिशिष्ट 5 - टीकान्तर्गत व्याकरण सूत्र		86
क्रियाकलाप	10	64			
19. अट्टाइस मूलगुण धारक					
को सिद्धि न होने का कारण	11	64			
20. पुनः माया कषाय की बहुलता					
से वह श्रमण नहीं	12	66			

प्रकाशकीय

महाकवि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के शिष्य समुदाय में एक अनोखी प्रतिभा के धनी, संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत भाषा में निष्णात अल्पवय में ही अनेक ग्रन्थों की संस्कृत टीका लिखने वाले उत्तरप्रदेश के भोगांव में जन्मे मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज ने जिनवाणी की उपासना कर इस जैन जगत् के ऊपर महान् उपकार किया है। मुनि श्री ने प्रवचन गंगा में अपने को स्नात कर आर्ष मार्ग के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित अष्टपाहुड के अन्त के दो पाहुड (लिंग एवं शील) की संस्कृत टीका की है। लगभग 15 वीं शताब्दी के आचार्य श्रुतसागरसूरि ने दो पाहुडों की टीका क्यों नहीं की? इसके बाद छः सौ वर्षों में किसी भी आचार्य, मुनि, विद्वान् मनीषी ने क्यों नहीं की, यह विषय अन्वेषणीय है।

पूज्य मुनिश्री के हस्तशिल्प से अवतरित संस्कृत नन्दिनी टीका साधकों को सम्यक् दिशा में चलने को प्रेरित करेगी। टीकाकार स्वयं ही एक श्रमण हैं। श्रमण, श्रमण के भावों को अच्छी तरह से समझ सकता है। लिंगपाहुड टीका पढ़ने से आपको ऐसा लगेगा कि आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा का हार्द इस टीका में उतर आया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साधकों में भी इस प्रकार के भाव देखने में आते हैं। उन्हीं का चित्रण इन टीकाओं में इस तरह है कि मानो आचार्य कुन्दकुन्ददेव उन्हें सम्बोधित कर रहे हों। इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द का परिचयात्मक लेख “अष्टपाहुड-अष्टपहलू” शीर्षक से लिखना मुनिश्री के गहन चिन्तन एवं वैचारिक गहराई का परिचायक है। तथा “आचार्य कुन्दकुन्द अष्टक” मुनिश्री के काव्य सौष्ठव को प्रदर्शित करता है।

टीकाकार के इस विद्वत्तापूर्ण परिश्रमान्वित सारस्वत कार्य के लिए साधुवाद के सुमन अर्पित करते हैं। मुनिश्री की अभूतपूर्व प्रतिभा से सरस्वती का भण्डार वृद्धिगंत होगा।

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज एवं पूज्य मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज के चरणों में कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये शत-शत नमन कोटि-कोटि वंदन निवेदित करता हूँ।

प्रकाशक

आचार्य कुन्दकुन्द परिचय

मुनि प्रणम्यसागर

आचार्य कुन्दकुन्द लोकोत्तर व्यक्तित्व के युग प्रवर्तक आचार्य थे, जैनसंघ की परम्परा में एक युग भगवान् महावीर से लेकर अंगपाठी आचार्यों तक का हुआ है। जबकि दूसरे युग का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द से हुआ। पूर्व युग में आचार्यों ने वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करके लोक कल्याणकारी उपदेश देकर जैनसंघ के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। जबकि उत्तरयुग के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसके साथ-साथ जैनसंघ को विकारों और प्रहारों से सुरक्षित रखने के दायित्व का भी निर्वाह किया। वास्तव में आचार्य कुन्दकुन्द आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व इस भारतभूमि पर आध्यात्मिक जगत के सर्वोपरि आचार्य हुए हैं। इनके महान् आध्यात्मिक चिन्तन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई है और उसने एक अद्भुत मोड़ लिया, यही कारण है कि आपके परवर्ती सभी आचार्य कुन्दकुन्दाम्नाय का आचार्य मानकर अपना गौरव मानते हैं।

दिगम्बर आम्नाय के प्रधान आचार्य, श्रमण संस्कृति के उन्नायक, परम आध्यात्मिक संत कुन्दकुन्द हुए, जिनके विषय में विद्वानों ने सर्वाधिक खोज की, जिसमें कुछ विषय निम्न प्रकार हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि दक्षिण देश के कुरुमलई ग्राम में करमण्डु नामक सेठ के यहाँ मणिरत्न नाम का एक ग्वाला रहता था। जिसे दावानल से जलते हुए जंगल में कुछ सुरक्षित शास्त्र मिले। वह ग्वाला उन्हें अपने घर ले आया और उच्च स्थान पर रख उनकी पूजा आराधना करने लगा। कुछ दिन बाद ग्वाले ने उन ग्रन्थों को मुनि श्री के लिए भेंट कर दिया। इसी पावन शास्त्रदान के प्रभाव से वह ग्वाला उपरोक्त सेठ के घर में कुन्दकुन्द नामक पुत्र हुआ।

आपका जन्म आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले में गुण्टुकल स्टेशन से लगभग चार मील दूर कोण्डकुन्द (कुन्दकुन्दपुरम) अपर नाम कुरुमलई में माघ शुक्ला पंचमी, ईस्वी पूर्व 108 में हुआ था। जिनशासन की प्रभावना एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की जन्मघट्टी पीकर, उसे साकार करने के लिए 11 वर्ष की अल्पायु में ही आपने मुनिव्रत अंगीकार कर लिए। आपका मुनिदीक्षा का नाम पद्मनन्दि था। बोधपाहुड ग्रन्थ के अनुसार आप आचार्य भद्रबाहु के शिष्य थे।

आपने ग्यारह वर्ष की अल्पायु में मुनि दीक्षा ली थी, 33 वर्ष तक मुनिपद पर रहे तदनन्तर 44 वर्ष की आयु में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये, 52 वर्ष, 10 माह, 15 दिन आचार्य पद पर विरजमान रहे। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने 95 वर्ष 10 माह 15 दिन की दीर्घायु पायी और ई. पू. 12 में समाधिमरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।

आप कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य एवं पद्मनन्दि नाम से विख्यात थे।

आपने पंचपरमागम एवं 84 पाहुडों की रचना की परन्तु वर्तमान में कुछ ही कृतियाँ हमें उपलब्ध हो पाती हैं। समयपाहुड, पंचास्तिकायपाहुड, प्रवचनसारपाहुड, अष्टपाहुड (दसंणपाहुड, चारित्रपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड, शीलपाहुड), नियमसारपाहुड, जोणीसारपाहुड, क्रियासारपाहुड, आराहणापाहुड, लब्धिसारपाहुड, बंधपाहुड, रयणसारपाहुड, तत्त्वसारपाहुड, भावसारपाहुड, अंगपाहुड, क्षपणपाहुड, द्रव्यपाहुड, बोधिपाहुड, क्रमपाहुड, पुयपाहुड, विद्यापाहुड, उघातपाहुड, दृष्टिपाहुड, सिद्धांतपाहुड, लोयपाहुड, चरणपाहुड, समवायपाहुड, नयपाहुड, प्रकृतिपाहुड, चूर्णिपाहुड, पंचवर्गपाहुड, एयमपाहुड, कर्मविपायपाहुड, विहियापाहुड, वस्तुपाहुड, सूत्रपाहुड, बुद्धिपाहुड, पयद्धपाहुड, उत्पादपाहुड, संठानपाहुड, नितायपाहुड, साल्मीपाहुड, आदि चौरासी पाहुड और बारसाणुवेक्खा। सिद्ध, सुद, आइरिय, जोई, णिव्वाण, पञ्चगुरु और तित्थयर भक्ति ये सभी प्राकृत भाषा की रचनाएँ हैं एवं षट्खण्डागम ग्रन्थ पर परिकर्म नाम से बारह हजार श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखी गई, जो अनुपलब्ध है।

प्राकृत भाषा के अतिरिक्त तमिल भाषा पर भी आचार्यश्री का अधिकार था। तमिल भाषा में आपकी सर्वमान्य रचना कुरलकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है यह अध्यात्म एवं नीति का सुंदर ग्रन्थ है। दक्षिण देश में यह तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

एक बार कुन्दकुन्दाचार्य अपने विशाल संघ (594 साधु) सहित गिरनार यात्रा पर पहुँचे। उसी समय शुक्लाचार्य के नेतृत्व में श्वेताम्बर संघ भी पहुँचा। श्वेताम्बर आचार्य अपने को प्राचीन मानते थे और चाहते थे कि पहले हमारा संघ यात्रा करे। शास्त्रार्थ के द्वारा निर्णय न होने पर संघ समूह ने निर्णय लिया कि इन पर्वत की रक्षिका देवी जो निर्णय दे वही सर्वमान्य होगी। तब कुन्दकुन्दाचार्य अपनी साधना में लीन हुये, उनकी साधना के प्रभाव से सरस्वती देवी प्रकट हुई, उसने दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता सिद्ध की। सभी ने उनके निर्णय को स्वीकारा और दिगम्बर संघ ने सर्वप्रथम यात्रा की।

अष्टपाहुड/अष्ट पहलू

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के नाम से प्रत्येक आत्मा परिचित है। उनके अनेक ग्रन्थों में अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ समयसार जहाँ आध्यात्मिक चेतना को बल देता है, वहीं प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय ग्रन्थ भी द्रव्य व्यवस्था का और श्रमणों के बाह्य-अभ्यन्तर स्वरूप का आमूलचूल वर्णन करते हैं। शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के माध्यम से चेतना को चेतना में ही विलीन करने का उपदेश आपके इन ग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त आपने अनेक पाहुडों की रचना की है पर उनमें अष्टपाहुड ही सम्प्राप्त हैं। इन अष्ट पाहुडों में आचार्य कुन्दकुन्ददेव के बहु आयामी व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उनके व्यक्तित्व के अष्ट पहलू ही मानो अष्टपहलू वाले रत्न की तरह इस अष्टपाहुड में परिलक्षित हैं।

1. आचार्य कुन्दकुन्ददेव-एक दार्शनिक : दर्शनपाहुड

इस दर्शनपाहुड में आचार्यदेव का दर्शन एक दार्शनिक के रूप में देखने को मिलता है। दृष्टि में जब तक व्यापकता नहीं आती तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सत्य सर्वत्र नहीं किन्तु सम्यक्-समीचीन दर्शन प्राप्त होने में हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि 'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल दर्शन है। इस दर्शन की अंतरङ्ग परिभाषा जहाँ सम्यग्दर्शन है वहीं उसका बाह्य स्वरूप एक निर्ग्रन्थ यथाजात रूप में दिग्दर्शित होता है। जो लज्जा, गारव, भय से रहित हो दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करके शरीर को चलाने मात्र के लिए भोजन ग्रहण करते हैं। खड़े होकर, एक बार, दिवस में अल्प आहार ग्रहण करना यह उस दर्शन का बाह्य चिह्न है। कहा भी है-

दुविहं पि गंथचायं तीसु व जोएसु संजमो ठादि।

णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई॥द.पा.14॥

इस दर्शन के स्वरूप से रहित होकर जो अपने को दार्शनिक मानने का दंभ करते हैं और अन्यो को अपने पैरों में पड़ते हैं या जो लज्जा या भय के कारण दर्शन रहित के पैरों में पड़ते हैं, वे धर्म से दूर रहते हैं, उनको बोधि-केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। इस यथाजात रूप को ही दर्शन कहना और अपने समय के अनेक दार्शनिकों के समक्ष इस अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थता को स्थापित करना, आचार्य कुन्दकुन्ददेव के दार्शनिक व्यक्तित्व का दर्शन करता है। दार्शनिकता मात्र विचार और चिन्तन की उड़ान से नहीं आती है अपितु उस विचार का आचरण के साथ सामंजस होने में है। वह सामंजस जितने अंशों तक जो आत्मा अंगीकार कर लेता है, वह दार्शनिक है। इस सामंजस का

नाम ही शास्त्रीय भाषा में संयम है। यह संयम मात्र इन्द्रियों का दमन नहीं अपितु आत्म-नियंत्रण है। Self Control है। इस Self Control के बिना Self Realization कभी सम्भव नहीं। जिन्होंने पूर्ण रूप से इस नियंत्रण को किया, वे ही जिन हैं और उनका दर्शन ही जिनदर्शन है। इस दर्शन में कोई मतान्धता, पंथवाद, रूढ़िवाद नहीं किन्तु सहज-सत्य-अलौकिकता है। उनका प्रथम स्थान है जो इस बालकवत् निर्विकार जिन रूप को धारण करते हैं। वे ही प्रथम दर्जे के दार्शनिक हैं। दूसरे वे उत्कृष्ट श्रावक हैं, जो इन दार्शनिकों का अनुकरण करते-करते गृह त्याग तो कर चुके हैं, पर वस्त्र त्याग का साहस नहीं जुटा पाये हैं। तीसरे दर्जे के वे लोग हैं जो स्त्री होकर भी यथायोग्य आचरण करते हैं। इसके अलावा और कोई भी दर्शनीय नहीं, वन्दनीय नहीं। इस दार्शनिकता की प्रतिष्ठापना करके आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने निडर हो स्पष्ट रूप से कहा है कि 'असंजदं ण वन्दे' असंयत वन्दनीय नहीं है।

2. आचार्य कुन्दकुन्ददेव-एक सूत्रधार: सूत्रपाहुड

बिना आलम्बन के गति-प्रगति संभव नहीं है। “डूबते को तिनके का सहारा” इस लोकोक्ति के अनुसार इस संसार समुद्र में डूबते प्राणियों को एक सहारे की जरूरत है। वह सहारा ही सर्वहारी मानव-समाज का प्राण है। जिन्होंने दार्शनिक रूप को प्राप्त कर आत्म आनंद को प्राप्त किया है, ऐसे जिनवरों के वचन, उनके आचरण ही वे सूत्र हैं/डोर हैं, जिससे सभी को वह आत्म आनंद प्राप्त हो सकता है। उन महान् दार्शनिक जिनेन्द्रदेव के वचन ही सूत्र हैं। उन्हीं वचनों को गणधरदेव ने कहा और उन्हीं को राग-द्वेष रहित परवर्ती आचार्य, मुनियों ने कहा। उन सूत्र वचनों को जो जानता है, मानता है वह संसार में जन्म-मरण का नाश करता है। जैसे लोहे की सुई, सूत्र (डोरा) के बिना हो तो नष्ट हो जाती है, खो जाती है और डोरा सहित हो तो नष्ट नहीं होती है। जो जिन-सूत्रों को जानता है तो वह इन्द्रियों के अगोचर भी आत्मा को प्रत्यक्ष से स्वसंवेदन से जान लेता है। कहा है-

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।

सच्चेयण पच्चक्खं णासदि तं सो आदिस्समाणो वि॥सू. पा. 4॥

अर्थात् ससूत्र जो पुरुष है वह संसार में रहकर भी विनष्ट नहीं होता है, क्योंकि उसकी आत्मा अदृश्यमान होकर भी सत्ता रूप चैतन्य चमत्कारमय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है और वह संसार को नष्ट कर देता है। परमार्थ में प्रवर्तन तो जिनसूत्र से ही होता है पर व्यवहार में प्रवर्तन भी जिनसूत्र के अनुसार होना चाहिए। वह व्यवहार, परमार्थ का सहायक है इसलिए व्यवहारसूत्र को भी जानना चाहिए। जो क्रियाएँ परमार्थ की साधक हैं, उन्हें व्यवहार में भी

अन्यथा न करें। जैसे कि जो निर्ग्रन्थ हैं, वे ही पाणिपात्र में भोजन करते हैं, अन्य गृहस्थों को कभी खेल-खेल में भी ऐसा नहीं करना चाहिए। बाल के अग्रभाग की कोटि अर्थात् अणी मात्र भी परिग्रह नहीं रखने वाले साधु की श्रावक इच्छा करता है अर्थात् उसके स्वरूप को चाहता है इसलिए नमोऽस्तु करता है। यह व्यवहार भी श्रावक के लिए विधेय है।

3. आचार्यकुन्दकुन्ददेव-चारित्र प्रवर्तक : चारित्रपाहुड

जिनेन्द्रदेव के सूत्रों में सबसे प्रथम आचारांग है। इसमें आचरण का व्याख्यान है। वह आचरण दो प्रकार का कहा है एक गृहस्थ का और दूसरा श्रमण का। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अविरत सम्यग्दृष्टि के आचरण की समीचीनता पर जोर दिया है और कहा है कि प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण रूप चारित्र है और दूसरा संयम का आचरण रूप चारित्र। सम्यग्दर्शन के अष्ट अंगों का पालन करना ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा है। कुमत और कुश्रुत की प्रशंसा आदि से दूर रहकर अपने श्रद्धान को दृढ़ करते हुए सम्यग्ज्ञान की भावना से वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र को निर्दोष-निरतिचार करता है। संयमाचरण के दो भेद किए हैं। उसमें सागारों का संयमाचरण, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत से बारह प्रकार का है। यतियों का संयमाचरण पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद से तेरह प्रकार का है।

4. आचार्य कुन्दकुन्ददेव-एक गुरुभक्त : बोधपाहुड

आचार्य देव ने बोधपाहुड के अन्त में एक गाथा दी है और उसमें गमक गुरु भद्रबाहु स्वामी को याद किया है।

बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।

सुयणाणि भद्रबाहु गमयगुरु भयवओ जयओ॥बो.पा. 62॥

अर्थात् वे भद्रबाहु नामक आचार्य जयवंत होवे जो श्रुतज्ञानी अर्थात् श्रुतकेवली हैं। बारह अंग और चौदह पूर्वों के विस्तार को जो जानने वाले हैं तथा सूत्र के अर्थ को प्राप्त करके उसी प्रकार वाक्यार्थ करने वाले होने से वे गमक गुरु कहलाते हैं। इस बोधपाहुड की रचना उन्हीं गमक गुरु की परम्परा प्राप्त ज्ञान से हुई है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रतीति का कारण है बोध पाहुड में ग्रन्थ को ग्यारह स्थल में बाँधना। जिस विषय का आगे वर्णन किया जाना है उसको भी अधिकारों में विभाजित करके पश्चात् उस विषय को स्पष्ट करने का ढंग अति प्राचीन है। ठीक यही पद्धति कषायपाहुड सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना में है। आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहंत और प्रब्रज्या, इन ग्यारह अधिकारों को कहकर बाद में प्रत्येक का कथन किया है, यह व्याख्यान पद्धति ही गुरु भद्रबाहु से प्राप्त ज्ञान

का और उनके नाम स्मरण में कारण है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव का भद्रबाहु गुरु से सम्बन्ध साक्षात् या असाक्षात् इस विषय में इतिहासविदों ने बहुत साक्ष्य दिये हैं। पर इतना निश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव को यह पद्धति परम्परा प्राप्त थी अतः उन्होंने गुरु का स्मरण कर गुरुभक्ति का एक अनुपम साक्ष्य प्रस्तुत किया है और गुरु परम्परा के प्रति उनकी आस्था यहाँ स्पष्ट गोचर होती है।

5. आचार्य कुन्दकुन्ददेव-भावलिङ्गी श्रमणः भावपाहुड

165 गाथाओं में निबद्ध यह भावपाहुड अष्टपाहुडों में सबसे बड़ा पाहुड है। श्रमण के भावों को आत्मिक रुचि मात्र उत्पन्न होना तभी संभव है, जब उसे संसार से भय उत्पन्न हो जाए। संसार से भय संसार के वास्तविक स्वरूप के चिंतन से ही उत्पन्न होता है। इस भावपाहुड में चारों गतियों के दुःखों का, पंचपरावर्तन में भ्रमण का बड़ा मार्मिक चित्रण है। इस पाहुड का सम्यक् चिन्तन निश्चित ही किसी भी भव्य को आत्म भावना के लिए हठात् प्रेरित कर सकता है इसलिए प्रत्येक दीक्षार्थी को तो कम से कम इस पाहुड का वाचन-चिन्तन अवश्य करना चाहिए, जिससे गुणस्थान परक उसके भावों की संभावना हो सके। आचार्यदेव ने भाव नग्नता पर जोर देते हुए कहा है कि-

भावेण होइ णग्गो बाहिर लिङ्गेण किं च णग्गेण।

कम्मपयडीय णियरं णासई भावेण दब्बेण॥भा.पा. 54॥

अर्थात् भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्नलिङ्ग से क्या कार्य होता है? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भावसहित द्रव्यलिङ्ग से कर्म प्रकृति के समूह का नाश होता है। आज के इस भौतिक परिवेश में जहाँ श्रमण भी मात्र बाह्य प्रभावना से ही अपना श्रमणत्व समझता है। लोक रञ्जन के बिना आज श्रमण को ऐसा लगता है कि जैसे उसका कोई अस्तित्व ही न हो। मात्र भीड़ जोड़ना ही एक मात्र श्रमण की पहचान का अंग बन गया है। ऐसे विपरीत परिवेश में भी जो श्रमण इस भावपाहुड को पढ़ेगा तो निश्चित ही उसे भाव धर्म की प्राप्ति होगी। आचार्य कुन्दकुन्ददेव का यह प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। श्रमण को अपने दीक्षा दिवस पर मात्र समारोह मनाने का उद्देश्य ही देखने में आता है और उसी में आनंद और श्रमणपना भासता है पर आचार्यदेव कहते हैं, हे श्रमण! तू निरन्तर उस दीक्षा काल का चिन्तन कर, जिस समय तूने दीक्षा ली थी, उस समय क्या विचार थे, क्या वैराग्य था और आज क्या है। भाव से शुद्ध होकर पूजा लाभादिक को नहीं चाहते हुए उत्तर गुणों का पालन कर, भाव बिगड़ने के कारण क्या है और कैसे भावों की संभाल हो सकती है। इसके लिए अनेक दृष्टान्त भी दिए हैं और व्रतों की

भावना निरंतर भाते रहने के लिए जोर दिया है। अत्यन्त भाव भीनी गाथाएँ भव्यात्मा के हृदय को अत्यन्त लुभाती हैं। आचार्यदेव का यह वर्णन उनके ही भावलिंग और भाव विशुद्धि को दर्शाने में अतीव सफल है।

6. आचार्यकुन्दकुन्ददेव-एक सच्चे मुमुक्षु : मोक्षपाहुड

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा के तीन प्रकार दिखाकर अन्तरात्मा को परमात्मा तक पहुँचाने का एक अत्यन्त महनीय प्रयास किया है। अन्तरात्मा को स्वरुचि से जोड़कर ध्यान के लिए प्रेरणा इस पाहुड ग्रन्थ पठन से मिलती है। व्यवहार और निश्चय मार्ग यहाँ बिल्कुल विपरीत प्रतिभासित होते हैं। अन्तर्मुखी योगी की चिन्तन दशा का यह वर्णन मननीय है-

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।

जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥मो.पा. 31॥

अर्थात् जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। नवीन कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए, पुण्य-पाप का परिहार कर, परमात्मा का ध्यान करना ही मुमुक्षु का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य होता है। इसी लक्ष्य के प्रति उत्साह इस पाहुड को पढ़ने और मनन करने से प्राप्त होता है। आहार, आसन, निद्रा को जीतकर गुरु प्रसाद से अपनी आत्मा का ध्यान करने की प्रेरणा और कष्ट में भी आत्म भावना की प्रेरणा किसी भी कष्ट को जीतने के लिए अपूर्व कवच का कार्य करती है। अन्त में आचार्य देव की करुणा देखने में आती है कि-पहले तो आत्मा का जानना दुःख से होता है, आत्मा को जानकर भी उसकी भावना करना और कष्ट से होता है। आत्मा को भाकर भी उसका अनुभव बड़े कष्ट से होता है। यह सब होकर भी विषयों से विरक्ति बड़े कष्ट से होती है। (भावपाहुड 65)

7. आचार्यकुन्दकुन्द देव-सशक्त अनुशासक : लिङ्गपाहुड

इस लिङ्गपाहुड में श्रमण के अनेक क्रियाकलाप जो कि श्रमण के बाह्य लिङ्ग के भी विपरीत हैं, उनका वर्णन है। कभी-कभी तो आश्चर्य भी होता है कि क्या उस समय में भी श्रमणों की इस प्रकार की प्रवृत्ति होती थी पर आज के परिवेश को देखकर उन सब क्रियाओं पर विश्वास होने लगता है कि हाँ ऐसा पहले भी होता था। एक कट्टर अनुशासक के रूप में आचार्यदेव का व्यक्तित्व इसी पाहुड को पढ़ने से देखने में आता है। पाप से मोहित बुद्धि वाले उस श्रमण को पशु कहने का साहस करना, यह उनके एक अनुशासन आचार्य के गुण को

दिखाता है। अनेक लौकिक, पाप की क्रियाओं में लगे उस श्रमण को चेतावनी देकर उसकी नगनता को धिक्कारा है और उसे पशु तुल्य कहा है। वास्तव में आचार्यदेव ने जिनलिङ्ग की पूज्यता पर कोई आँच न आये, इस बात का भरसक प्रयत्न किया है।

8. आचार्य कुन्दकुन्ददेव-एक आत्मस्थ साधक : शीलपाहुड

शील अर्थात् आत्म स्वभाव। उस स्वभाव में रहना ही ज्ञानीपना है। वही तप और त्याग का फल है। वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। अन्त में आचार्यदेव कहते हैं कि-

अरहन्ते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं

सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं॥शी. पा. 40॥

अर्थात् अरहन्त में शुभ भक्ति होना सम्यक्त्व है, वह सम्यक्त्व, दर्शन से विशुद्ध है, विषयों से विरक्ति शील है इसके अलावा और ज्ञान किस प्रकार होता है। अर्थात् जिस ज्ञान में यह सभी कार्य हैं, वह ज्ञान ही ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है। इस शीलपाहुड में पंचाचार का विभाजन कुछ भिन्न तरह से किया है। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य ये पंचाचार हैं। जिनका स्पष्टीकरण गाथा 34 की टीका में है। कभी सुना था कि-

Good sense of everything lies at the end.

इस सूक्ति के अनुसार अष्टपाहुडों में लिङ्ग और शीलपाहुड सारभूत हैं।

इस प्रकार ये अष्टपाहुड आचार्यदेव के सर्वांगीण व्यक्तित्व को तो दिखाते ही हैं पर जिनमत का प्रतिष्ठा में बहुमूल्य धरोहर भी हैं। इन प्राभूतों पर षट्प्राभूत की संस्कृत टीका तो श्री श्रुतसागरसूरि की उपलब्ध है, पर अन्तिम दो पाहुडों पर टीका क्यों नहीं लिखी गई, इस प्रश्न का कोई समाधान इतिहास विज्ञों ने नहीं दिया। श्रुत की तीव्र भक्ति से और शुभोपयोग के समय का सदुपयोग करने की भवना से अन्तरात्मा में यह भावना उत्पन्न हुई कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव जैसे महान् आचार्य की कृति पर 'यथामति' कुछ व्याख्या करना, वास्तव में सम्यग्ज्ञान की सत् उपलब्धि है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दो पाहुडों पर टीका लिखने का विचार कर मुझ अल्पमति ने यह साहस किया है। आचार्य गुरुदेव श्री विद्यासागरजी महाराज की असीम अनुकम्पा से यह कार्य हो पाया है, ऐसा मैं मानता हूँ अतः उन्हीं के पवित्र कर कमलों में यह सब समर्पित है, जिन कर कमलों ने मुझ बालक में यह बल डाला कि रत्नत्रय की साधना के साथ श्रुत उपासना का पुरुषार्थ भी हो सका। आचार्य गुरुदेव के चरणों में त्रिभक्ति सहित नमोऽस्तु करते हुए उनके वात्सल्यमयी कर कमलों में समर्पित यह कृति। इत्यलम्।

ॐ.अर्ह नमः

22 जुलाई 2008

आचार्यकुन्दकुन्दविरचित लिङ्गप्राभृत पर मुनिश्री प्रणम्यसागरकृता नन्दिनी टीका

आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा विरचित अष्टपाहुड साधुओं के हीनवृत्त/शिथिलाचार रूपी मदोन्मत्त गजराज के वशीकरण के लिए एक समर्थ अङ्कुश है। अष्टपाहुड ही साधुओं के स्वाध्याय का एकमात्र ऐसा सशक्त साधन है, जिससे शिथिलाचार के विरुद्ध ऐसे वातावरण की निर्मिति हो सकती है, जो मूलगुणों के निरतिचार परिपालन में प्रवृत्ति और अतिचार/शिथिलाचार से निवृत्ति कर सके। अष्टपाहुड के स्वाध्याय एवं तदनुकूल आचरण से साधु सन्मार्ग में सावधान प्रवृत्त हो सकेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह कहना सर्वथा समीचीन ही है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव जहाँ अध्यात्म प्रतिपादन में दृष्टान्तों का अवलम्बन लेकर कुसुम से भी सुकुमार प्रतीत होते हैं, वहाँ संघ के प्रशासक आचार्य के रूप में वज्र से अधिक कठोर हैं। उनके विषय में यह कथन सर्वथा समुचित ही कहा जा सकता है—

**“वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को वा विज्ञातुमर्हति॥”**

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वे स्वयं कठोर दिगम्बर मुनिचर्या का पालन करते रहे होंगे, उनकी आकांक्षा अपने संघ को ऐसी ही चर्या में दृढ बनाने की तथा भावी मुनिसंघों को सावधान करने की रही होगी। उनके इसी लोकोत्तर रूप को जानकर कविवर वृन्दावनदास ने ठीक ही लिखा है – “हुए न हैं होहिंगे, मुनिंद कुन्दकुन्द से।”

आचार्य कुन्दकुन्ददेवकृत अष्टपाहुड में से लिङ्गपाहुड एवं शीलपाहुड को छोड़कर शेष छह पाहुडों पर श्री श्रुतसागरसूरि ने संस्कृतभाषा में टीकायें लिखी हैं। यद्यपि ये सभी टीकायें श्रीजयसेनाचार्य की कुन्दकुन्ददेव के समयसार आदि पर लिखीं गईं टीकाओं के समान पदखण्डान्वयी हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कुन्दकुन्ददेव के हार्द को कहीं-कहीं तोड़ा-मरोड़ा है तथा परमतखण्डन में असहिष्णुता का भी प्रदर्शन किया है। बोधपाहुड की सत्रहवीं गाथा में तो वे बिना किसी प्रसङ्ग के भक्तों को अपनी पूजा करने का जोरदार उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि तुम सब लोग पूजा करो, अष्टविध अर्चना करो और विनय करो। हाथ जोड़ना, पैरों में पड़ना, सन्मुख जाकर लिखाना, वात्सल्य, भोजन-पान, पादमर्दन, शुद्ध तैल आदि

से मालिश, पादप्रक्षालन आदि सब कार्य तीर्थकर प्रकृति के उपार्जन के हेतुभूत हैं। यह विचारणीय है कि क्या ऐसे कथनों को श्री कुन्दकुन्ददेव की भावना के अनुरूप कथञ्चित् भी माना जा सकता है।

श्री श्रुतसागरसूरि ने लिङ्गपाहुड एवं शीलपाहुड पर टीका क्यों नहीं लिखी, यह विषय चिन्त्य है। इससे भी अधिक विचारणीय यह है कि श्रीश्रुतसागरसूरि (पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी) के पश्चात् पाँच-छह शताब्दियों में किसी ने भी इन दो पाहुडों में संस्कृत टीका क्यों नहीं लिखी, जबकि जैन साधु संस्कृत में पर्याप्त लेखन करते रहे हैं।

सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य मुनिवर प्रणम्यसागर महाराज प्राच्य-पाश्चात्य भाषाविद्, जैनागमज्ञ बहुश्रुत मनीषी हैं। उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने इन दोनों पाहुडों पर संस्कृत टीका लिखकर इस कमी को पूरा करने का तथ्यनिष्ठापूर्ण कर्तव्य निर्वहन किया है। मुनिवर में कारयित्री एवं भावयित्री उभयविध प्रतिभा विद्यमान है। एक सुकवि के रूप में आचार्य विद्यासागर महाराज के जीवन पर प्रणीत उनका अनुपम महाकाव्य “अनासक्तमहायोगी” विद्वज्जगत् में समादृत है तो भावक/समीक्षक के रूप में ‘पुरुषार्थसिद्ध्युपाय’ सदृश ग्रन्थ पर प्रथम संस्कृत टीका समीक्षकों में पर्याप्त चर्चित है। वे आयुर्वेद, योग, जैनधर्म, पूजापद्धति विधान आदि विषयों पर प्राकृत, संस्कृत एवं हिंदी भाषा में गद्य-पद्य प्रणयन में प्रवीण हैं। एक कवि के रूप में जहाँ उनका हृदय छलकता है तो टीकाकार के रूप में समीक्षण का अनुपम कौशल प्रकट होता है। वे एक ओर प्रभावक प्रवचनों के माध्यम से श्रद्धालु समाज को समीचीन धर्म की ओर अग्रसर बना रहे हैं, वहीं दूसरी ओर साहित्य-सपर्या के माध्यम से भारतीय विद्वन्मनीषा को नवीन चिन्तन की भावरश्मियों का महनीय प्रकाश प्रदान कर रहे हैं। लिङ्गपाहुड एवं शीलपाहुड की उनकी संस्कृत टीकायें इस तथ्य का ज्वलन्त निदर्शन हैं।

लिङ्गपाहुड की नन्दिनी टीका

‘यथा नाम तथा गुण’ यह नन्दिनी नाम्नी टीका वास्तव में मुनिमनोरञ्जयित्री, सत्साधुसमाज की मार्गदर्शिका टीका है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिङ्गपाहुड में मात्र बाह्य लिङ्ग को धर्म का साधक न मानकर अनेक लौकिक पापाचारों में रत साधु को खूब धिक्कारा है तथा जिन लिङ्ग की पूज्यता की रक्षा के लिए सार्थक प्रयत्न किया है। अनेक आचरण जो साध्वाचार के सर्वथा विपरीत हैं, उन्हें करने वाले साधु को पशु तक कहकर उन्होंने खूब लताड़ा है। उनके अनुसार बाह्य लिङ्ग मात्र प्रयोजनभूत नहीं है। ऐसा साधु तो अवर्णवाद का पात्र होता है। वह आर्तध्यानी अनन्त संसारी है तथा नरकगामी है। आहारनिमित्तक कलह करने वाला, अदत्त वस्तु को ग्रहण

करने वाला एवं परनिन्दारत चोरश्रमण है, वह श्रामण्यभाव से पतित है। भावशून्य श्रमण को कुन्दकुन्दाचार्य पार्श्वस्थ साधु से भी निकृष्ट मानते हैं। उनके अनुसार लिङ्गपाहुड गणधरदेव की देशनानुसार कथित है तथा कष्टपूर्ण श्रामण्य का परिपालक ही मोक्ष का पात्र बनता है।

प्रथम गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस प्राभृतशास्त्र में श्रमणलिङ्ग के कथन की प्रतिज्ञा की है। मुनिश्री ने नन्दिनी टीका में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति अतिशयित सम्मान भाव को प्रकट करते हुए उन्हें मिथ्याप्रपञ्चोत्तरक तथा मूल परम्परा से प्राप्त ज्ञान से सज्जित मंच वाला कहा है। इस कथन में भाषा का सौष्ठव, समस्त पद होने पर भी सारल्य की छटा द्रष्टव्य है—

“श्रीमहतिवीरमहावीरतीर्थगङ्गप्रवाहितविमलसलितधौताशेषा-विवेकतिमिरपटल कलङ्कोत्तीर्णकामक्रोधप्रीतिपरूषवचनवनितास्पृहप्रभृति-भगवहनप्रापणहेतुमिथ्याप्रपञ्चः पूर्वाचार्यमूलपरम्पराप्राप्तदिव्यज्ञानेनसज्जिताध्यात्मसिद्धान्ताचरणकथाप्रधानप्रसव निमित्तोदञ्चमञ्चः श्रीकुन्दकुन्ददेवः।”

नन्दिनी के इस प्रारंभिक भाग को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि टीका मुनिमनमनोरञ्जयित्री है। यह सहसा ही गद्यचिन्तामणि के गद्य का स्मरण करा देती है। श्रमणलिङ्ग की व्याख्या करते हुए मुनिश्री उसे साक्षात् मोक्षस्वरूप कहते हुए द्रव्य एवं भाव के भेद से उसका द्विविधत्व वर्णित करते हैं। यथाजातरूप, केशोत्पादन से शुद्ध, हिंसादि से रहित एवं शरीरसंस्कार से रहित द्रव्यलिङ्ग तथा रागादि रहित चैतन्य परिणति से परिणत को भावलिङ्ग कहते हैं। इसके समर्थन में उन्होंने कुन्दकुन्ददेवकृत प्रवचनसार को उद्धृत किया है—

“जहजाधरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिङ्गं॥”

इसी प्रकार प्राभृत को चूर्णिसूत्र के ‘जम्हा पदेहि पुदं फुडं तम्हा पाहुडं’ कथनानुसार स्पष्ट करते हैं कि जो अनेक पदों से अथवा पदार्थों से भरा हो, वह प्राभृत कहलाता है।

इस प्रकार मुनिश्री प्रणम्यसागर महाराज ने जहाँ नन्दिनी में विषय को एकदम स्पष्ट किया है, वहाँ प्रामाणिकता के लिए आचार्यकृत ग्रन्थों के उद्धरणों से समर्थन भी किया है। आगे भी उन्होंने इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यकृत अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ अनेक आचार्यकृत शास्त्रों से विवेच्य का दृढीकरण किया है।

मूलगुणों का परिपालक, तप-संयम-नियम-नित्यकर्म में एवं दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्ति करने वाला साधु भी यदि दूसरों को पीड़ा देता है तो वह नरकवास को पाता है। भोजन में रसगृद्ध यदि कामभाव से प्रवृत्ति करता है तो वह मायावी जिनलिङ्ग का विनाशक है, वह श्रमण नहीं

है, वह तो पशुतुल्य है। बारहवीं गाथा की टीका करते हुए कन्दर्प आदि (कन्दप्पाइय) से मुनिश्री ने आदि शब्द से किल्बिष, अभियोग्य, दानवी, सम्मोही भावनाओं का ग्रहण किया है तथा अपने कथन के समर्थन में मूलाचार की एक गाथा को उद्धृत किया है-

**“कंदप्पमाभिजोगं किव्विससम्मोहमासुरत्तं च।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति।”**

अर्थात् कन्दर्पी, अभियोग्य, किल्बिषक, सम्मोह और आसुरी वृत्ति मरण की विराधना करती है, जिससे देव दुर्गति होती है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिङ्गपाहुड की बीसवीं गाथा में कहा है कि यदि कोई साधु महिलावर्ग में विश्वस्त होता हुआ दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र को देता है, तो वह साधु पार्श्वस्थ श्रमण से भी निकृष्ट है, वह वास्तव में श्रमण ही नहीं है। पार्श्वस्थ क्या कहलाता है? इसे स्पष्ट करने के लिए नन्दिनी टीका में मुनिश्री ने मूलाचार की गाथा उद्धृत की है-

**“ववहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई॥”**

अर्थात् वसतिकाओं में प्रतिबद्ध, उपकरण बनाने वाला, श्रमणों के निकट में रहने वाला पार्श्वस्थ (पासत्थ) कहलाता है।

मुनिश्री ने स्पष्ट कर दिया है कि पार्श्वस्थ शब्द से पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक एवं मृगचारी पाँचों ही पार्श्वस्थ हैं। क्रोधादि कषायों से कलुषित, संघ की विनय न करने वाले मुनियों की कुशील संज्ञा है। ध्यानादि से विरक्त चारित्र से भ्रष्ट साधु संसक्त कहलाता है। शरीर को जीव रूप बताने वाले साधु अपसंज्ञक हैं। स्वच्छन्द रूप से एकाकी विहार करने वाले साधु मृगचारी कहलाते हैं। महिलावर्ग में विश्वस्त साधु को कुन्दकुन्ददेव ने इन पञ्चविध पार्श्वस्थ साधुओं से भी निकृष्ट प्रतिपादित किया है। उन्होंने स्पष्टतया कहा है कि जो सदा महिलाओं के प्रति राग करता है, दूसरों को दोष लगता है, ऐसा दर्शन ज्ञान से रहित साधु पशु (तिर्यच योनि) है, वह श्रमण नहीं है।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि आचार्य भी तो आर्यिकाओं को दीक्षा देते हैं, फिर मुनियों को स्त्री के लिए दर्शन-ज्ञान प्रदान करना निषिद्ध क्यों है? मुनिश्री ने इस सन्दर्भ में सत्रहवीं गाथा की टीका में स्पष्ट कर दिया है कि आचार्य के योग्य कार्यों को मुनि के लिए नहीं करना चाहिए। क्योंकि आचार्य के गुण मुनियों के मूलगुणों से कथाज्वित् भिन्न होते हैं - “यतो ह्याचार्यार्हकार्यं मुनीनां न कर्तव्यम्। सूर्यगुणानां कथञ्चिन्मुनेर्मूलगुणाद्भिन्नत्वात्।” शिक्षा,

दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि देने योग्य आचार्य के विशेष गुणों को बतलाने के लिए नन्दिनी टीका में मुनिश्री ने मूलाचार की दो गाथाओं को उद्धृत किया है -

“पियाधम्मो दिढ्धम्मो संविग्गोवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहवुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणहरो होदि॥”

अर्थात् आर्यिकाओं के आचार्य (गणधर) वे होते हैं, जिनको धर्म प्रिय हो, जो धर्म में दृढ हों, संवेग युक्त हों, पाप से डरने वाले हों, संगह एवं अनुग्रह में कुशल हों, समय का मूल्य समझने वाले हों, गंभीर हों, दुर्धर्ष हों, परिमित बोलने वाले हों, कौतुहल से रहित हो, चिरकाल से दीक्षित हों तथा शास्त्रों के अर्थ के ज्ञाता हों।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लिङ्गपाहुड की नन्दिनी टीका भाषा, प्रतिपाद्य, भाव एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से एक समीचीन हार्द को प्रकट करने वाली टीका है।

विनीत

(डॉ.) जयकुमार जैन

संरक्षक/पूर्वअध्यक्ष श्री अखिल भारतवर्षीय

दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

429, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

FOREWORD

Acharya Kundakunda and His Works

Acharya Kundakunda was a spiritual saint and a great writer among Digambara Jain thinkers. He is honoured by remembering next to Mahavira and Gautam Ganadhar. Kundakundanvaya is another evidence that recognizes him as the head of the Moolasangha, which is also considered one of the earliest congregations of Jain ascetics named after Acharya Kundakunda. Kundakunda as a leader of Moolasangha had also launched the Sarasvati movement around 30 B.C. and initiated or made popularized the reading and writing of the scriptures in Sauraseni Prakrit and in the languages of South India. Acharya Kundakunda also composed the Kuralakavya in Tamil language.

According to epigraphic records and the Pravachanasara, Kundakunda's original name was Padmanandi, but he became more popular by the name Kundakunda (E.C. II. 64, 66). In addition, Vakragriva, Elacharya and Graddhapichha were his other names or epithets. Vattakera may also have been his epithet, which is mentioned by Acharya Vasunandi in his commentary on the Moolachara. According to Dr. Upadhye, Kundakunda hails from Konakunda near Guntakal. Dr. Hanumanth Rao is of view that the birth-place of Kundakunda is Vijayawada on the ground that there is an ancient inscription in Akkanna Madanna caves. Dr. T.V.G. Shastri Supported the view by saying that exploration on the bank of the river Krishna has revealed some ancient Jain remains attributed to the period before Christ in a village called Kolanukonda, not Konakonda in Anantapur District. The place is located in Guntur district on the opposite side of the city of Vijayawada. It is to be stated that Jainism in Andhra is as old as Mahavira himself. There is clear evidence of Chandragupta Maurya's migration into Andhra along with Bhadrabahu First. After forecasting the twelve-year famine at Magadha. Jain inscriptions found at Vaddamanu village of Guntur district of Andhra Pradesh reveal the popularity of Jainism in the region. Ponnur in South Arkad District would have been his place of penance and literary activities.

Nothing more about his personality is found in the works of Kundakunda except the name of Bhadrabahu as his Gamakaguru. So many traditional stories of course are found in different Texts of different times that are not much reliable and helpful for deciding the date and period of Kundakunda. For instance, the Punyasravakatha Kosa, Aradhana Kathakosa, and Jnanaprabodha provide some information about his advent to Purva Videha-Kshetra for paying a visit to Srimandharasvami, Shastradana etc. Devasena in his Darshanasara (Verse 43) also supports this view. Sravanabelagola inscriptions mention such possession of Charanariddhi by Pujiyapada and Umasvami while Rajavalikahe of Devendra (1770-1881 A.D.) refers a similar account to Pujiyapada only. These stories belonging to later Bhakti period that may be based on the third Gatha of Pravachanasara which speaks of Kundakunda who salutes all the Arahantas of Manushakshetra (Vandami ya vattante arahahante manushe kshetre).

Date of Acharya Kundakunda

The date of Acharya Kundakunda is still a vexed problem, which could not be solved in such a way that could be approved by all the scholars. It requires the judicious and unbiased approach with a relative evaluation of the previous scholars' views and epigraphically records in right perspective.

I need not refer to and evaluate all the views established by the scholars like Pt. Nathuram Premi, Dr. Pathak, Muni Kalyanavijay. Pt. Jugal Kishor Mukhtar, Professor Chakravarty, Dr. A.N. Upadhye and Pt. Kailash Chandra Shastri. Dr. A.N. Upadhye evaluated all then existing important views and established the date of Kundakunda at the beginning of the Christian era with two limits in the introduction to the Pravachanasara (p. xii) as follows.

In the light of this long discussion on the age of Kundakunda wherein we have merely tried to weigh the probabilities after approaching the problem from various angles and by thoroughly thrashing the available traditions, we find that the tradition puts his age in the second half of the first century B.C. and the first half of the first century A.D.; the possibility of Satkhandagama being completed before Kundakunda would put him later than the middle of the second century A.D.; and the Merkara copper-plates would show that the later limit of his age would be the middle of the third century A.D. Further the possibilities, in the light of the limitations discussed, that Kundakunda might have been a contemporary of king Shivakandha of the Pallava

dynasty and that he, if proved to be the same as Elacharya on more definite grounds, might be the author of Kural, would imply that the age of Kundakunda should be limit, in the light of the circumstantial evidences noted above, to the first two centuries of the Christian era. I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that Kundakunda's age lies at the beginning of the Christian era.

After the demise of Dr. Upadhye, the date of Kundakunda was not much discussed. Sometimes back Dr. M.A. Dhaky and Dr. Sagarmal Jain have reviewed the date fixed by Dr. Upadhye and expressed their views on the problem that Kundakunda may be even placed in about eighth c. A.D. Most of their arguments are based on the negative and inferential evidence. We shall now discuss them here in brief. Prof. Dhaky published his article in the Aspects of Jainology, Vol. 3, pp. 187-206, Varanasi, 1991 with the caption "The Date of Kundakundacharya" and Dr. Sagar Mal Jain got his article published in the Sagara Bharati. We shall discuss in brief here the important points relating to fixing the Data of Acharya Kundakunda.

1) Question of Acharya Bhadrabahu and Kundakunda

Acharya Bhadrabahu played a leading role in deciding the date of Acharya Kundakunda who mentioned him as Gamakaguru in his Bodhapahuda:

Saddaviyaro huuo bhaasaasuttesu jam jine kahiya.

So taha kahiya nayam sisena ya Bhaddabaahussa.

Baarsaangaviyaanam chaudasapuvvangaviulavittharanam

Suyanainbhaddabaahuu gamayaguruu bhayavao jayao. Gatha, 60-61

Jain tradition speaks of mainly two Bhadrabahus. The first one was Srutakevalin Bhadrabahu, the contemporary of Chandragupta Maurya. Kundakunda cannot be a direct disciple of the First Bhadrabaahu who was the Srutakevali, the knower of twelve Angas and fourteen Purvas as mentioned in the Bodhapahuda. But Kundakunda must have referred to him as Gamakaguru, the traditional teacher. Jayasena followed the same tradition by calling Kundakunda as Kundagrasisya in his Pratisthapatha Prasasti. So many other instances are also found in literature where the Acharyas mentioned himself as the indirect disciple of earlier reputed teachers. Srutakevalin Bhadrabahu was undoubtedly a spiritual leader of the Jain order who led the Jain Sangha to the South and saved the original character (Digambaratva) of Jainism.

Kundakunda paid an honour by accepting him as Gamakaguru. Sramanabelagola inscriptions mention Bhadrabahu and Chandragupta Maurya with a great respect.

According to Nandisangha Pattavali, Kundakunda was the successor of Jinachandra, the successor of Maghanandi as follows: – Bhadrabahu> Guptigupta> Maghanandi> Jinachandra>Kundakunda. Jayasena in his Panchastikaya mentions that Kundakunda was the disciple of Kumaranandi Siddhantadeva. If this Kumaranandi is considered the second name of Maghanandi, then both may be treated as the disciples of Gamakaguru Bhadrabahu. Sramanabelagola Inscription No. 105 (254) mentions the names of some of the Acharyas held between Bhadrabahu and Yatindra Kundakunda (Verse 13). They are Kumbha: 1) Vinita, 2) Haladhara, 3) Vasudeva, 5) Achala, 6) Merudhira Merudhara, 7) Sarvajna, 8) Sarvagupta, 9) Mahidhara, 10) Dhanapala, 11) Mahavira and so forth. Indranadi Srutavatara remembers Kundakunda as the prominent Acharya who composed the scripture after its extinct. He is honoured by establishing an Anvaya after his name (Kundakundanvaya). Kundakunda is also mentioned as the founder of Moolasangha in inscription No. 55:

Srimato vardhamansya vardhamanasya sasane.

Srikondakundanamabhunmulasanghaganirgani. (Verse. 3)

Some other Sramanabelagola inscriptions Nos. 42, 43, 47 and 50 (Saka Samvat respectively 1099, 1045, 1037, and 1060) mention Kundakunda possessing another name Padmanandi in the Nandigana belonging to the same lineage. Likewise, Inscriptions No. 54, 40 and 108 (Saka Samvat 1050, 1085 and 1355 respectively) provide a long list of Moolasanghiya Nandigana lineage starting with Gautama as follows: 1) Gautama>Gautama and others> Srutakevalin Bhadrabahu> Chandragupta > Padmanandi or Kundakunda > Umasvati > Samantabhadra > Devanandi > Pujiyapada> Akalanka > Gollacharya and so forth (Verses, 3-13). Other inscriptions like 42, 43, 47 and 50 support this view. All these inscriptions confirm that Kundakunda belongs to Nandigana lineage and were an indirect disciple (Paramparasisya) of Srutakevalin Bhadrabahu. Therefore, he may be placed in the first c. A.D.

The Second Bhadrabahu was the authour of Niruktis on the Svetambara traditional Agamas. He is said to be the elder brother of Varahamihira who lived in

the 6th century A.D. Kundakunda cannot be contemporary of the second Bhadrabahu, as Kundakunda has already been mentioned in Markara inscription of fifth century A.D. We shall discuss this point afterwards. There have been some more Bhadrabahus in different times in opinion of scholars. But the views are not supported with sufficient evidence. For instance, Dr. Fleet and Dr. T.V.G. Shastri are of view that there were three Bhadrabahus in Jain tradition. Kundakunda was the disciple of second Bhadrabahu who was the contemporary of Acharya Dharasena, Arhatvali, and Bhutabali. All these three Acharyas were responsible for the division of Jain order (Moolasangha) into Digambara and Shvetambara. This is not correct. Dr. Shastri forgot the details of reference of Bodhapahuda, which mentions clearly the Srutakevalin Bhadrabahu. There is no evidence to prove the identity of Guptgupta and Chandragupta as one and the same. Likewise, any credential evidence does not support the twelve years famine during the second Bhadrabahu. The earliest inscription of Sravanabelagola of about Saka Samvat 522 (No. 1) mentions of course the event happened during the first Bhadrabahu (Srutakevali) very clearly.

2. The question of Digambara and Shvetambara Division

The rudiments of schism in Jain order can be traced out in the Samannaphalasutta of Dighanikaya. The famine in Magadha for twelve years during the period of Srutakevalin Bhadrabahu and Chandragupta Maurya in third c. B.C. further strengthened the division. Both the Darshanasara (Gatha 11) and Harivamsapurana of Digambara tradition and Kalpasutra and Nandisutra of Shvetambara tradition accept more or less the 136 and 139 year after Vikrama as the point of origin of schism into Jainism. This is the period when the differences became rather more acute. Both the traditions agreed upon Bhadrabahu and the point of early schism in about second C.A.D. Acharya Kundakunda criticized some of the controversial points such as liberation for women and use of clothes by ascetics in the Sutta Pahuda (Verses, 17-26), and Pravachanasara (III. 3-5, 8-9, 6-14, 20, 24 etc.). This criticism bears the early stage wherein deep logical ground is not adopted. Even the word Jinakalpa is not found in the Kundakunda's works. The Linga Pahuda refers obviously to the characteristics of Pasattha Sadhus and not the Digambara Sadhus. Therefore, Kundakunda cannot be placed after second c. A.D.

3. The Question of Shivakumara Episode

It is Jayasena of 12th c. A.D. who Mentioned Shivakumara Maharaja in his commentaries on Panchastikaya (pp. 1, 6) and Pravachanasara (pp. 1, 9, 19, 268, and 277) with the statement that they were composed to teach the king. Balachandra, the Kannada commentator, further supported this. Nothing could be finally known about Shivakumara so far. Dr. Pathak identified him as Shivamrgesavarman of the Kadamba dynasty (about 528 A.D.). This view cannot be accepted as by this time Kundakunda became already very much popular in the society and the literature as well. The Markara copper plate of Saka Samvat 388 mentions clearly his name along with his six Acharyas in lineage. Professor Chakrtavarty tried to identify the Shivakumara Maharaja with Shivaskandha or Yuva Maharaja of Kanjivaram Pallava dynasty. But the beginning of the Pallava genealogy is chronologically itself uncertain. On the other hand, Prof. Dhaky identified Sivakumara with Sivamara second of Ganga dynasty of eighth c. A.D. This view appears to be more hypothetical. In my opinion, Kundakunda has in fact no-where mentioned himself any Shivakumara Maharaja. He however mentioned one Shivakumara Muni in Bhavapahuda in other context this was the mere speculation of Jayasena of 12th c. A.D. If Shivakumar is to be identified, he can be identified with the Shivakumara Muni Maharaja of Bhavapahuda wherein he mentions another name of Muni Shivabhuti along with Shivakumara Muni. Both these Munis are remembered there with a great respect of these, Shivabhuti Muni can be of course identified with the Subhuti of Udayagiri Vyaghragumpha inscription of Kharavela. (Nagara akhandasa Subhutino lenam). This identification supports our view that Kundakunda belongs to the period of First c. A.D. The Gathas are as follows:

Bhavasamano ya dhiro juvaijanaveddhio visuddhamai.

Namenashivakumaro parittasamsario jado.

Tusamasam ghosanto bhavavisuddho Mahanubhavo ya.

Namena ya shivabhui kevalanani phudam jao.

Bhavapahuda, Gatha 51, 53

4. Question of Moolasangha and Kondakundanvaya

The Moolasangha is first mentioned in Mathura inscriptions of first c. A.D. Then the Nodamangala and Markara Copper plates which draw our attention that

Kundakunda was the leader of Moolasangha and Kundakundanvaya was in existence in about fourth c. A.D. The Sravanabelagola inscription No. 90 and onwards mention Kongunivarma Dharmamahadhiraja of early Gupta period who donated a village to Uranur Jain temple consecrated by Moolasanghi Muni Chandranandi (Chandranandy acharya pramukhena moolasanghenanusthitaya urnurarahatayatanaya Korikunda... No. 94). Further Kondakunda is remembered as Moolasanghagrani Gani in Sravanabelagola inscription No. 55. As we all know, Kundakunda was fourth in the lineage after Bhadrabahu, the leader of Moolasangha. Earlier the Moolasangha was more popular with the name of Moolagana. Then it was merged into Moolasanga (Inscription No. 250). Nandigana, Kondakundanvaya, Desiyagana, Pustakagachha were related to Moolasangha. The Pattavali of these Anvayas and Gacchhas is started with Padmanandi (Kundakunda) > Umasvati > Balakapichha > Gunanandi > Devendra > Saiddhantika > Kaladhautanandi and so forth. Thus the Moolasangha may be traced out from at least first or second c. B.C. Arhadvali divided it into different branches under the banner of Moolasangha at the behest of Acharya Dharasena at Mahamna Nagari in Andhrapradesa.

Kundakunda, Lohacharya and Arhadbali might have started the Moolasangha with the view to have independent identity of Digambara tradition. During the regime of Arhadbali. There was called a Yati Sammelana in Mahimanagari, which discussed the proposal of Dharasena and sent two disciples Pushpadanta and Bhutavali to him for agamic study. Satkhandagama was the result of this Yati Sammelana held during the Kharavela period in Udisa as mentioned in the Hathigumpha inscription.

5. Question of Reliability of Markara copper plate

Markara copper plate plays an important role in deciding the date of Kundakunda. It refers to Ganga dynasty starting from Konguni First (189-220 A.D.) to Avinita. Avinita donated the Badaneguppa village to the Jain temple, which was further handed over to Akalavarsa, the Rastrakuta king by Chandranadi Bhattaraka in Sak Sam. 388. This copper plate mentions simultaneously the chronology of Kundakundanvyaya as follows: Gunachandra > Abhaynandi > Shilabhadra > Jayanandi > Gunanandi > Chandranandi. Likewise, it also provides us the chronological dynasty of Gangavamsa, viz. Kongani First (190-220 A.D.) > Madhava First > Harivarman >

Visnugopa > Madhava Second > and Avinita Kongani (400-420 A.D.) (Jaina Silalekha Sangraha, Bhaga, 2, pp. 63-65). Avinita is also called Satajivi in inscriptions. The Nonamangala Copper Plate (No. 94) also refers to the same dynasty and the Kundakundanvyaya as well. The donation was made to the Jain temple for its maintenance.

Dr. Gulabchandra Chaudhari in his introduction to Jaina Shilalekha Sangraha (Bhaga 2, p. 47) tries to prove that the Copper Plate is spurious one. He placed the argument that it mentions the minister of Akalavarsa, the Rastrakuta king with Avinita the Ganga king that does not suit to the period of both the dynasties. He is of view that the Markara Copper Plate was tempered and rewritten during Akalavarsa region and inscribed there the names of Kundakundanvaya and Desiyagana Acharyas. On this basis, Professor M.A. Dhaky and Sagarmal Jain have refused to accept the First c. A.D. as the date of Kundakunda and placed him in sixth to eighth c. A.D. Dhaky says that the verdict of the external evidence is clear enough. It does not favour a date anterior to the latter half of the eighth century for Padmanandi-Kundakundacarya (Aspects of Jainology. Vol. 2, p. 195).

Srivijayajinalaya - kkepunaduccha(cchat) sahasraedendusaptarimadhye Vadaneguppe nama Avinitamahadhirajena datten padiyearodamuru.

ii) Nonamangala Copper Plate:

...Konganivarmma-dharmamahadhirajena Atmanah sreyase pravardhamana - vipullaisvarye prathama - samvatsare phalgunamase suklapakse tithau pancamyam so (kho) padhyayasya parmarhatasya Vijayakirteh sakaladinmandala-vyapikirtterupadesatah chandranandy acharya - pramukhena moolasanghenanusthitaya Uranurarhatayata (3B) naya Korikunda-visaye Vennailkarnigramah Perurevani-adigala rhadayatanaya sulka-bahiskarsapanesu padasca devabhogakramenadbhirdattah yo Syalobhad pramadadvapi hartta sa panca-mahapataka-samyukto bhavati api catra manugitah slokah.

Both the Copper plates belong to about 466 A.D. (Saka Sam. 388). It refers clearly to the chronology of Ganga dynasty starting with Kongunivarman to Avinita. The Markara Copper Plate also mentions the names of six Acharyas in the chronology of Kundakundanvaya, namely Gunachandra, Abhayanandi, Shilabhadra,

Jayanandi, Gunanandi and Chandranandi. If we count fifty years of regime of one Acharya, it comes to about 300 years in total up to Chandranandi. Therefore the date of Kundakunda can be fixed undoubtedly in First and Second c. A.D.

6. Question of Visnu and Siva

Acharya Kundakunda mentions the name Visnu (Loyassa kunai Vinhu, Samayasara, 321; Bhava. 150) and Shiva (Mokha. 2, 6) in different contexts in his works. Muni Kalyanavijaya places Kundakunda in sixth c. A.D. on the basis of these references. In fact, these references mention the names of Vedic Gods and not the Vedic sects. These Vedic Gods appear to have been more popular in South even before the Christian era. Their idols are even found of the period in the region. Visnu is even mentioned in the Sutrakrtanga (Pakkhisu va garude venudevo, 1.6.21) Therefore this point has no value in the context of deciding the date of Kundakunda.

7. Question of internal evidences

Professor M.A. Dhaky concluded his view in his article “The Date of Kundakundacharya” that on the basis of external and internal evidences, the date of Kundakundacharya may be placed in the eighth c. A.D. His external evidences are already discussed. As regards the internal evidences, they too are not much potential for fixing the date Kundakunda in eighth c. A.D. Some of his arguments are as follow :

1) The Lingapahud mentions the laxities in the Jain Sangha, which violently go against the Jain monastic code of conduct. It enumerates a lot of such laxities like involvement in agriculture, marriages, and attachment with ladies and so forth. These references are not in fact apparently to Jinakalpa or Digambara Sramanas, but they meant for the Parsvastha Sramanas. Kundakunda himself mentions such Pasattha Samanas in the last portion of the Lingapahuda (Pasattha vi hu niyattho bhavavinattho na so samano, Verse 20; Bhavapahuda, Verse, 14).

2) Indranandi credits Padmanandi-Konakundacharya to have written a commentary namely Parikarma on the Satkhandagama of Puspadanta and Bhutavali which is a work of early sixth or at most late fifth c. A.D. This is not correct. The Parikarma is neither traced out so far nor it is mentioned in the Dhavala. It is of course recorded by Indranandi. Vibudha Shridhara in his Siddhantasadsangraha.

p. 318 is of view that Pankarma was written by Kundakirti. the disciple of Kundakundacharya. Therefore, the doubtful point cannot be a deciding factor. Secondly, the Satkhandagama cannot be placed in sixth c. A.D. Nandisangha Prakrit Pattavali and some Inscriptions are of view that Arhadbali, Maghanandi, Dharasena Puspadata and Bhutavali were successor of each other.

3-4) Kundakundacharya is posterior to Vattakera's Moolachara. This is not a correct view. Vattakera and Kundakunda may be one and the same personality. Vattakera is the adjective of Kundakunda. Secondly, the verses of the Moolachara are found in the Sanmati Prakarana, Avasyakanirukti, Acharanga Nirukti, Pinda Nirukti and not the *vice-versa*. Such Gathas may belong to the ancient tradition. The Acharyas of both the traditions may have borrowed from the common source.

8. Question of External Evidence

Acharya Kundakunda is not referred to in the works of pre-medieval Digambara Jain thinkers like Umasvati, Samantabhadra, Pujiyapada Devanandi, Akalanka. Jinasena and others. Therefore, he must be placed in the eighth c. A.D. But this is not correct. Kundakunda has nowhere mentioned in his works any Jain writers except Srutakevali Bhadrabahu as his Gamakaguru. This itself indicates that he belongs to the period prior to all these thinkers. Secondly, Kundakunda was the spiritual thinker and not the logician one while others were logicians. Then reference to Kundakunda would have been out of context. As soon as spiritual thinker Amrutachandra gets his works in hands, he started the commentary on the Samayasara and other Texts. Moreover he is already mentioned in the Markara and Nodamangala copper plates of about fifth c. A.D. Sarasvati Gaccha Pattavali mention his name after Maghanandi and Jinachandra. If Maghanandi is prior to Dharasena, then Kundakunda becomes more or less contemporary to Puspadata-Bhutavali.

The Tiloyapannatti mentions the Lokavibhaga five times (1.221, 4.2448, 2451, 7.115; 8.665). At present The Lokavibhaga in Sanskrit is available composed by Simhasuri in 458 A.D. during the regime of Kanchi king Simhavarma who informed that it was simply a translation of Prakrit Lokavibhaga. Pt. Jugal Kishor Mukhtar suggested that it was the Prakrit Lokavibhaga, which was before Simhasuri. Niyamasara Gatha No. 17 wherein Kundakunda mentioned the plural form of "Loyavibhayesu" may support this. This does not mean that Kundakunda can be

assigned after the period of Tiloyapannatti of Sarvanandi. It indicates in fact that it is not confined to any one Lokavibhaga but it informs about the teachings incurred in other Lokavibhaga Texts. The Sanskrit Lokavibhaga uses the Lokavibhajna as an adjective of Jinwesvara in the opening verse indicating that there were so many Lokavibhaga Texts at that time. Therefore, the Lokavibhaga point does not go against the date of Kundakunda in first c. A.D.

9. Question of Gunasthan theory

Dr. Sagarmal Jain placed Acharya Kundakunda in the sixth c. A.D. on the basis of development of Gunasthan theory. But this too does not appear correct. As we know, Jivasthan is originated from Mahakammappayadipahuda, which was the substratum of Jivasthana Satprarupana composed by Puspadanta. The words Jivasthana and Jivasamasa were used in early days in the sense of Gunasthana. The Samvayanga refers to only Jivasthana, while the Sadkhandagama uses all the three words. Samvayanga mentions the names of fourteen Jivasthanas, and not Gunasthanas. It seems, it is the Sadkhandagama of about first c. A.D. which uses all the three words together followed by Kundakunda. Umasvami also makes a use of these Gunasthanas time to time in the ninth chapter. The following Sutra No. 45 clearly mentions practically all the Gunasthanas in the context of Karmanirjara **Samyagdrasti sravaka viratanantaviyojaka darshanamohakshapakopashamakopashantamohakshapakaksinamohajinah kramaso asankheyagunanirjarah**. The ten stages can be compared with fourteen Gunasthanas as follows:

- 1) Samyakdrasti-Avirata Samyakdrasti or Samyakdrasti (4) The first three Gunasthanas are included here.
- 2) Sravaka - Viratavirata or Deshavirata (5)
- 3) Virata - Virata or Pramatta Samyata Gunasthana (6)
- 4) Anantaviyojaka-Darshanamoha or Apramattasamyata (7)
- 5) Darshanamohakshapaka - Apurvakarana Gunasthana (8)
- 6) Upashamaka - Charitramoha or Anivrttikarana and Sukshmasamparaya (9-10)
- 7) Upashantacharitramoha - Upashantakashaya Kshapaka or Upashantamoha (11)

- 8) Charitramohakshapaka
- 9) Kshinamoha - Kshinamoha (12)
- 10) Jina - Sayogakevali (13) and Ayogakevali (14)

This indicates that the development of Gunasthana theory had taken place in about first c. B.C. and not the sixth c. A.D. as suggested by Prof. Sagaramal Jain. Umasvati mentions them accordingly.

The Jivasamasa of an unknown Shvetambara writer came into light, which is based on the Satkhandagama as the writer himself points out by saying “Bahubhangaditthiyae”. It is composed in the later Maharastri Prakrit. Dr. Jain is of view that it is composed in the fifth c. A.D. He also informs that it is Hemachandra Suri (12th-13th C.A.D.) Who composed its commentary for the first time, It is a matter of strange that no commentary could be composed on such a remarkable book for about 600 years span of time. There are a number of ancient Texts, which could not find the commentators. That does not mean that they are not worthwhile. If the works of Kundakunda are not reached to the hands of scholars or commentators, the question cannot be raised about their reality and antiquity. The evaluation of scholars requires in fact unbiased attitude.

10. Question of Kundakunda and Nagarjuna

Kundakunda and Nagarjuna and his disciple Aryadeva were contemporary. It is very difficult to decide as who has borrowed the idea from whom. Neither Nagarjuna has referred to Abhedavada of Kundakunda nor Kundakunda mentioned anywhere the concept of Sunyavada propounded by Nagarjuna. But they hail definitely from South India in about first c. A.D. The idea expressed in the verses No. 143-144 of Samayasara can be found in the Madhyamika karika. In explaining the utility of Vyavaharanaya, Kundakunda in Samayasara says :

Jaha navi sakkamanijjo anajjabhasam vina u gaheum.

Taha vavaharena vina paramatthuvaesanamasakkam.

(Verse. 8)

Nagarjuna and Aryadeva express the same idea in on the function of the two truths: -

Nanyatha bhasaya mlecchah sakyo grahayitum yatha.

Na laukikamrte lokah sakyo grahayitum tatha.

Madhamika Karika, 14.10; Chatuhshatakam, 194

Likewise Acharya Sankara borrowed the concept of Naya from Shramana philosophy. It is quite misinterpretation that Kundakunda borrowed the idea from Gaudapada. In fact Gaudapada borrowed it from Kundakunda. By this time Jain philosophy was very much known as Anekantavadi. A huge literature on the concept is also available since first c. A.D.

Thus we have discussed some important points relating to the date of Kundakundacharya and expressed the view that he must have flourished in the 1st c. A.D. and not the sixth or eighth c. A.D. as assumed by Prof. Dhaky and Dr. Sagarmal Jain.

The Works of Kundakunda

The following main works are attributed to Kundakundacharya: – 1) Satkhandagama Tika on three sections known as Parikarma Tika which is not available today, 2) Moolachara, 3) Ten Bhattis: - Titthayarabhatti, Siddhabhatti, Sudabhatti, Charittabhatti, Anagarabhatti, Ayariyabhatti, Nivvanabhatti, Panchaparametthibhatti, Yogibhatti, 4) Ashtapahuda- Damsana Pahuda, Charitta Pahuda, Sutta Pahuda, Bodha Pahuda, Bhava Pahuda, Mokkha Pahuda, Linga Pahuda, Shila Pahuda, 5) Barasa Anuvekkha, 6) Panchatthikayaya Sangaha, 7) Pavayanasara, 8) Samayasara, 9) Niyamasara. These Texts are composed in Sauraseni Prakrit along with impact of Ardhamagadhi and Maharashtri Prakrit. We are giving some important points about these Texts.

1. Samayasaro

Samayasara or Samaya Pahuda is the most popular work in Digambara tradition. It deals with spirituality from Suddha Nischayanaya standpoint and Vyavaharanaya is explained to avoid only misunderstanding. The work was originally called Samayapahuda (Vochami samayapahudaminamo suyakevalibhaniyam (Gatha 1), but imitating the other works like Niyamasara and Pravachanasara, it is more popularized with the name of Samayasara. The word Samaya connotes the meaning pure soul (Samayo khalu nimmalo appa, Rayanasara, Gatha 153; Samyak ayah bodho yasya sa bhavati Samaya Atma or samam ekibhavenayanam gamanam samayah, Samayasara, Tatparyavrtti, p. 5). It also indicates the status of soul, which is engaged to attain the equanimity, abandoning all sinful acts (Samaria). Thus Samayasara or Samayapahuda

is the book of soul. The commentator Jayasena (12th c. A.D.) divided the Samayasara in his Tatparyavrtti commentary into ten chapters dealing with the subjects in 442 Gathas. The commentator Amrutachandra (10th c. A.D.) added in his Atmakhyati Commentary in two independent appendixes namely Syadvadadhikara and Upayopeyabhavadhikara with the view to explain the Nayas. According to him, the Samayasara consists of 415 Gathas.

The Samayasara deals with the spiritual matter, which is called Bhedavijnana, the knowledge of dissociation with the Karmas. Acharya Kundakunda discussed the matter mainly from Shuddha Nischayanaya, the real standpoint of view. At the outset, he explained the nature of Svasamaya and Parasamaya in this respect. Svasamaya means the soul that is situated in the state of Darshana, Jnana and Charitra and the Parasamaya is that which stays with the state of Karmas (Gatha 2). In his opinion the Suddhanischayanaya will not be helpful for laymen who are not spiritually well determined. It is not in fact for a common people. It is only for those who are about to be detached with worldly affairs. Self-realization in his view is the prime object of a Samsari Jiva who should properly understand the real nature of self. The author defined the Svasamaya and Parasamaya at the beginning and opined to create Ekatva (oneness) or Bhedavijnana (knowledge of differentiation between self-own soul and others) on the basis of Ratnatraya. The aspirant can know the nature of pure soul from Nischayanaya (absolute standpoint) that the soul is absolutely pure, sentient, omniscient and completely distinct from Ajiva (lifeless stuff). The Vyavaharanaya (empirical standpoint) can only help him to reach the destination as the Mlecchha (barbarian) can make understand through his language. One must realize the difference between the soul and the karmic influx.

The soul has its own independent existence. Whatever we get different states of matter or extrinsic qualities contrary to real nature therein due to its cause is called the nature of soul in the practical standpoint (Vyavaharnaya). In fact the soul keeps infinite spiritual knowledge of all substances by nature but does not involve and absorb in them at all. The inanimate substances can never be of soul. Keeping this view the worldly beings (Sansari Jivas) can attain the Nirvana, the emancipation from all karmas through his own right efforts

The main object of Acharya Kundakunda is to explain the nature of Shuddhopayoga. Shubhopayoga and Ashubhopayoga in his opinion are the causes of

Samsara. The good (shubha) and bad (Ashubha), both the Karmas are insignificant as the Karmas in general are hindrances in attainment of liberation. The chain may be made of gold or iron is ultimately a chain which binds one. The good deeds are definitely causes of influx of meritorious and auspicious Karmic results which assist to attain the liberation; but simultaneously they will have to be left out for the final attainment of liberation. One will have to be completely detached with all sorts of desires for the attainment of Vitaragatva (Gatha 145-46).

Kundakunda refers to Dvikriyavada in Verses 85-86. It means that the soul can be the agent of its psychic states and also of karmic modifications from Upadana standpoint. The author refutes this theory stating that this is the view of Vyavaharanaya and Vyavaharanaya cannot be a complete truth, it is therefore a sort of Mithyatva, which should be avoided by a spiritual personality. According to the Shvetambara tradition, Arya Ganga who flourished 228 years after Mahavira (Bhagawatisutra, I, ix, sutra 75) promulgated this view. This may assist in deciding the date of Kundakunda in the first c. A.D.

Acharya Kundakunda discussed the nature of soul from various points. In his view the worldly beings travel the entire wheel of world through taking interminable births due to their own past Karmas and realize the sorrow and pleasure. These Karmas cover their natural qualities and as a result they get the karmic bindings that create the obstructions for attainment of liberation. Thus the Acharya centralized his dealing with the purified soul, its worldly nature and way of getting rid of Karmas.

According to Acharya Kundakunda, all the souls transform within the ambit of their own quartel (Svachaturstaya) related to the nature of matter, space, time, and feeling (Dravya, Kshetra, Kala, and Bhava). None can interfere into others Dravya-Kshetra-Kala-Bhava. He then reestablished the traditional Jain view that the soul is his own Karta (Doer) and Bhokta (one who experiences both joys and sorrows) – *Katta bhoi amutto sarirabhitto anainihano ya*, Bhavapahuda, Gatha 148. Likewise, none is the cause of neither of its origin nor its destruction. It is an immortal, eternal, and beyond old age (Ajara), possessed of knowledge, vision and consciousness (Panchastikaya, Gatha 109). The power of transformation (Parinamana) is a virtue of only soul (Jiva) and matter (Pudgala) that can be perceived

on the stage of world through their different activities. The alone-purified soul does not possess the power of binding to any one. Only passionate feelings contrary to the real nature of soul are responsible for being associated with matter and binding of Karmas. This is considered from practical standpoint (Vyavaharanaya). The soul is neither therefore an action (Karya) because it is not originated one, nor it is the cause (Karana), as it does not originate others. It is in fact the Doer (Karta) as it is a shelter of Karmas and the karmas are originated from shelter of doer. This called Karta-karma Siddhi (Gatha 310-11). There is cause and effect relationship (Nimitta-naimittika Sambandha) between Karmabandha (binding of Karmas) and soul (Jiva). By this way the Acharya is of view that Atmakartrttvavada is a false theory.

The Samayasara consists of 415 Gathas according to Amrutachandracharya and 439 Gathas according to Jayasen. Amrutachandra divided the work into nine Ankas with a Purvaranga in the beginning and the Parishishta at the end. The Panchastikaya, Pravachanasara and Samayasara are called Natakatraya or the Prabhratrayi. But Amrutachandracharya took up the Samayasara as the drama or Nataka independently and tried to prove it in entire commentary.

2. Pavayanasaro

The Pravachanasara is another popular Text of Kundakundacharya. It has two commentaries in Sanskrit, one is written by Amrutachandra, which contains 275 Gathas divided into three Srutaskandhas dealing with Jnana. Jneya and Charitra, and the second one is composed by Jayasena. which consists of 311 Gathas. divided into three Adhikaras. Some more commentaries are also available in Hindi Kannada and other languages.

Dhamma or Sama is the real state of soul. It is pure when it is free from auspicious or inauspicious modes of soul, called Shuddhopayoga. The Shuddhopayoga leads to attainment the Kevalajnana and liberation from all Karmas (Moksha). The Shubhopayoga consists in devotion to divinity, cultivation of good deeds, observation of fasts and so forth that lead to births in human or divine categories. Delusion is the most powerful Karma that develops the attachment and aversion caused to Karmic bondage. The object of knowledge is made up of substances endowed with various qualities and modifications. The substance

undergoes conditions of permanence, origination and destruction. Substance comprises Jiva and Ajiva that are dealt with in detail in the second chapter. Meditation on the self is the real way to attain salvation. The third chapter deals with code of conduct of Jain ascetic. Non-attachment is pre-requisite for entering the order of monks who should have the aim to reach the stage of total non-attachment some philosophic questions and their criticism have also been made by Kundakundacharya here in the Text.

The Pravachanasara is included into Prabhratrayi and Natakatravi but it does not appear as a Nataka. Its main object is to deal with the conduct of Sramanas.” Charittama khalu dhammo” is the main theme of the Text and that is the gist of the Agama (Gatha 3.75). Its object is to adopt equanimity after entering the order of ascetics and attain liberation (Moksha), the path to which consists in right faith, right knowledge and right conduct. (Gathas 1-6).

The Pravachanasara is divided into three chapters, Jnana, Jneya and Charitra. The subject has been dealt with the help of both the Nayas Nischayanaya and Vyavaharanaya, but the Nischayanaya became the prominent one. The entity is made up of substance, quality and modification. The soul is therefore auspicious or inauspicious when it develops those modifications, and is pure when free from both the substance and modifications. Shuddhopayoga leads to liberation of self from Karmic matter, Shubhopayoga to heaven and the Ashubhopayoga to hellish and other lower destinies. The soul gets freedom from Ghatiyakarmas and becomes omniscient called Svayambhu (Gathas 9-16). In this state, the soul enjoys direct vision and knowledge of all subjects without the sensational stages in his perception without having any mutual contact. This is called direct knowledge (Pratyakshajnana) (Gathas 26-29, 53-58). This knowledge bestows the eternal pleasure to the liberated soul.

The Shubhopayoga consists in devotion to divinity, right penances and other merits. As a result of these auspicious Karmas the soul avails the various sensory pleasures that lead to a cause of bondage. The Ashubhopayoga consists in delusion, attachment, cruelty and aversion, which rise to various kinds of Karmic bondage and sorrows. One who understands the nature of Shubhopayoga and Ashubhopayoga is called Dharma as he becomes free from delusion and attachment, (83-92).

The Jneyadhikara deals with the nature of substance consisting of three elements origination, destruction and permanence. In the state of permanence, the origination and destruction take place in the substance simultaneously in its different forms of modes. Substance is the same. Thus modes and qualities constitute the substance. They are not separate. They cannot be present elsewhere than in a substance. This relation between them is called non-identity (Anyatva). There is always non-difference in the substance, but there is always difference in view of its modifications. There is nothing-absolute production or destruction in the world. The soul also gets modes in the form of birth and rebirths due to bondage of Karmas. The great saint is he who meditates on the highest happiness and completely gets rid of all Karmas (Gathas 93-108).

The Acharya in the Charitradhikara discusses the types of Charitra, which is the emblem of the Jain ascetic. Non-attachment is a pre-requisite for adopting the asceticism. After taking the initiation from the Guru, he should receive his course of duties consisting of 28 Moolagunas. There should be no default in observing the Moolagunas or primary virtues. He should go ahead for having the state of complete detachment from all the worldly affairs. He should take up the scriptural study, which prepares him for self-discipline and self-control. He takes one meal a day, which is not full stomach diet. The monks are endowed with either auspicious or pure manifestation of consciousness. Disciplinary formalities in behaviour are not forbidden in Shubhopayoga. Monks of Shubhopayoga have renounced attachment for external and Internal attachment. A monk who has abstained from improper conduct, who has ascertained the reality and who is peaceful and perfect in asceticism, will soon attain liberation and becomes Siddha. (Gathas 31, 57-60, 72).

In fact, the Acharya is of view that one should first abandon the Ashubhopayoga and then should not attach much importance to Shubhopayoga, but always should intent on Shuddhopayoga, which leads to attain the Nirvana, the state of complete free from all Karmas. This is the main aim of the novice. The aspirant should enter the order and observe the primary virtues and discipline, cultivate Shubhopayoga and attain Nirvana.

Substances (Dravyas), qualities (Gunas) and modifications (Paryaya) are called

the object of the knowledge. The substance is endowed with origination, destruction and permanence without leaving the existential character. Soul is a substance; manifestation of consciousness is its quality; and its modifications different types of births. Rupitva is a Guna of matter and its Paryayas are manifold like wood etc. The soul is the knower and essentially an embodiment of knowledge. But this essential knowing ability of the soul is crippled because of its long association with karmic matter. Acharya Kundakunda showed the path of liberation from the Karmic matter.

3. Panchastikaya-Sangaho

Panchastikaya has two main commentaries in Sanskrit, one is of Amrutachandra, which contains 173 Gathas, and the other one is of Jayasena, which informs the 181 Gathas. It is divided into two Struskandhas with a Pithika in beginning and Chulika at the end. This division was made by Acharyas Kundakunda himself as indicated in the opening of second Shrutaskandha by using the pronoun Tesam which refers to Astikayas etc. discussed in the first. This Text might have been a collection of traditional Gathas as indicated by the word Sangaho. Acharya Amrutachandra called some of the Gathas as Siddhanta Sutrani.

The Text proposes to define the Samaya as the Samavaya or collection of five Astikayas that manifest their existence through numerous qualities. They are soul (Jiva), matter (Pudgala), principles of motion and rest (Dharma and Adharma), and space (Akasha). The five Astikayas and Anastikayika Kala are designated as Dravya (substance) consisting of three qualities origination, destruction and permanence. It then discusses the qualities of Jiva comprising mainly Jnana and Darshana and then follows the discussion about other remaining Dravyas. After having discussed about Dravyas, the author goes to discuss the nature of nine Padarthas including Punya and Papa and also the path of liberation through Vyavaharanaya and Nischayanaya.

4. Niyamasaro

Niyamasara contains 187 Gathas dealing with the concept of Ratnatraya, the Samyakdarshana (right faith), Samyakjnana (right knowledge) and Samyakcharitra

(right conduct). Padmaprabha Maladharideva (12-13th c. A.D.) is the only commentator who commentated upon the Niyamasara dividing it into 12 Shrutaskandhas, The commentary is written in Sanskrit language and is named Tatparyavrtti. The Text consists of some traditional Gathas, which are also found in the Moolachara and other ancient Agama Texts. Niyamasara means the three jewels- Right faith, Right knowledge and Right conduct (Ratnatraya) which form the path of liberation. Ratnatraya is the Marga (way) and the liberation is the Margaphala (result) (Gatha 2-3). Ratnatraya is called Niyama and Sara indicates the Marga which is devoid of perverted motives like Mithyadarshana, -Jnana-Charitra. The Niyama is described from both the standpoints Nischaya and Vyavaharanaya (Gatha 54, 120). Nischayanaya is the direct way for obtaining the liberation while the Vyavaharanaya assists in its achievement.

Kundakundacharya always uses the words Nijabhava and Parabhava. The only Shuddha Atmatattva (purified soul) is Nijabhava and all other Tattvas (matters) like body, wife, wealth etc. are the Parabhava or Paradravya. From Nischayanaya standpoint, all the Parabhavas are other then the soul are worthless and insignificant. Only Svadravya, the soul is acceptable as beneficial. Even Vyavaharacharitra in his opinion is different from Vishuddhatmatattva The state of pure soul can be attained through observation of Vyavaharasamyakcharitra and Nischayasamyakcharitra. The Vyavaharasamyakcharitra consists of different types of penances and the Nischayasamyakcharitra deals with the Samadhi and Shuddhopayoga.

Right faith consists in believing in Apta, Agama, and Tattvas. The Right faith (Samyakdarshana) should be devoid of contrary faith (Mithyatva) (Gatha 51). There are six Tattvas (substances) namely Jiva, Ajiva, Dharma, Adharma, Akasha, and Kala. The first five are called Astikaya while the Kala is Anastikaya. The soul is expected to relinquish all the external objects and pursue its own nature the purity that is called Siddha or Svabhavaparyaya. Right Knowledge (Samyakjnana) is free from doubt, perversity and vacillation. It consists in the correct understanding as to what is acceptable (Upadeya) and what is rejectable (Heya) (Gatha 51-52). Right conduct (Samyakcharitra) is to hear the Samatabhava, the harmonious or full of equanimity temperaments. It is described from both the stand-points. Vyavaharacharitra consists in observing Panchamahavratas, Panchasamitis, Triguptis and the Pancha-Paramesthi

Shmarana (Arihanta, Siddha, Acharya, Upadhyaya and Sadhu). The observation of Vyavaharacharitra leads the aspirant to Nischayacharitra, which consists the Avasyakas. The Nischayacharitra can be achieved only through Shuddhopayoga and Bhedavijnana (discriminating science).

It may be noted here that Kundakundacharya discussed the Samyakcharitra through Nischayanaya. It covers mainly the Avasyakas, such as Pratikramana, Pratyakhyana, Alochana, Kayotsarga, Samayika, and Paramabhakti (Gatha 83-140). The last one is divided into two, Nivrtti and Yogabhakti leading to meditation and self-realization. This division is somewhat different with that of the Moolachara wherein the Alochana is absent (Gatha 1.22). Alochana may have been possibly included into Pratikramana and is replaced with Paramabhakti. At other places in place of Paramabhakti there are mentioned the Sruti land Vandana. Another important reference occurred in the Text is “Loyavibhagesu’s in Gatha No 17 which indicates the group of Lokavibhaga, and not to any particular Text.

5. Moolacharo

Moolachara is an authoritative work on the code of conduct of Digambara Jain asatics. Vasunandi (11-12th c. AD.) in his Sanskrit Commentary on the Moolachara attributes its authorship to Vattakera and also to Kundakunda. The Pushpika of the last chapter refers to Kundakunda as follows: “Iti Moolacharavivrttau Dadasodhyayah. Kundakundacharya -pranita -moolacharakhyavivrtti. Krtiriyam Vasunandinah sramanasya”. The Vattakera may be his adjective. If so, its authorship goes to Kundakunda. It contains 1252 Gathas. But the Kannad commentator Meghachandracharya mentions about 150 additional Gathas and is also of view that Kundakundacharya composed the Moolachara.

The Moolachara consist of 12 chapters: 1) Moolaguna, 2) Brhatpratyakhyana-samstaravastava, 3) Samkshepa Pratyakhyana, 4) Samachara, 5) Panchachara, 6) Pindashuddhi, 7) Sadavasyakas, 8) Dvadashanupreksha, 9) Anagarabhavana, 10) Samayasara, 11) Shilaguana, 12) Paryapti

6. Atthapahudam

There are eight Pahudas composed by Acharya Kundakunda. They are 1) Danshana Pahuda, 2) Charittapahuda, 3) Sutta Pahuda, 4) Bodha Pahuda, 5) Bhava Pahuda, 6) Mekkha Pahuda, 7) Limga Pahuda, and 8) Shila Pahuda. Srutasagarasuri

wrote a Sanskrit commentary on the first six Pahudas only. It does not mean that Kundakunda wrote only six and not the eight Pahudas. All the Pahudas in fact are an independent and significant works dealing with different important topics. Of these, the Charitta Pahuda and Bodha Pahuda are more systematic. The Bhavapahuda keeps the importance from technical terms and mythological stories.

Damsana Pahuda contains 36 Gathas dealing faith Right faith (Samyagdarshana). The Charitta Pahuda contains 44 Gathas discussing about the cultivation of Right conduct (Samyakcharitra) and its eight virtues. Sutta Pahuda (27 Gathas) is related to the Sutras given by Arhantas and Ganadharas. A Sutra (the sacred text) is not lost in Samsara. The Nirgrantha type of asceticism is said to be the best one the women are forbidden from accepting severe types of penances and asceticism such as nakedness. Bodha Pahuda (62 Gathas) deals with about eleven topics such as Ayatana (spiritual resort), Chaityagraha (holy edifice), Padima (image), Darshana (faith), Jinabimba (the idol of Jina), Jinamudra (the appearance of Jina), Jnana (knowledge), Deva (the pure soul), Tirtha (the holy resort), Arahanta (Jina), and Pravrajya (asceticism). The last two Gathas are very important from the standpoint of kundakunda's life and his discipleship of Bhadrabahu. Bhava Pahuda (163 Gathas) is related to the Bhava (purity of psychic state of mind). The Bhava is of three types, pure (Shuddha), auspicious (Shubha) and inauspicious (Ashubha) which are called Upayoga. In order to get rid of the Karmas one should reflect on the nature of self, which is embodiment of knowledge and consciousness. Mokkha Pahuda (106 Gathas) deals with the Paramatmahood realizing which souls attain liberation. Limga pahuda (22 Gathas) discusses the appearance of monk and others. Shila Pahuda (40 Gathas) deals with the conduct, which is an important factor of spiritual life.

6. Bhaktisamgaho

There are twelve types of Bhakti composed by Acharya Kundakunda. They are – 1. Titthayabhakti (8 Gathas), 2. Siddha Bhakti (12 Gathas), 3. Shudabhakti (11 Gathas), 4. Charitta Bhakti (10 Gathas), 5. Jogi Bhakti (23 Gathas) 6. Ayariya Bhakti (10 Gathas), 7. Nibbana Bhakti (21 Gathas), 8. Panchaguru Bhakti (7 Gathas), 9. Nandisvara Bhakti, 10. Shanti Bhakti, 11. Samahi Bhakti, and 12. Cheiya Bhakti. Prabhachandra, the author of Kriyakalapa commentary says in his commentary on

Siddhabhakti that Pujyapada composed all the Sanskrit Batiks and Kundakundacarya the Prakritabhaktis.

7. Barasa Anuvekkha

Barasa Anuvekkha (91 Gathas) deals with 12 types of reflection, which are prescribed for the stoppage of Karmic influx. They are: 1. Anitya: All are transitory, 2. Asharana: No external things can rescue the soul from death, 3. Ekatva: The soul is only responsible for the fruits of the Karmas, 4. Anyatva: External objects are quite separate from the soul, 5. Samsara: Soul is wandering in Samsara, 6. Loka: This universe is threefold; 7. Ashuchi: Ever thing in this world is impure, 8. Asrava: Mithyatva, passions etc. are the causes of karmic influx. 9. Samvara: Such religious activities which counteract the karmic influx, should be reflected upon, 10. Nirjara: The twofold way of shedding the karmic matter should be considered, 11. Dharma: Pratimas of a house-holder and 10 Dharmas should be considered, and 12. Bodhidurlabha Anupreksha: Enlightenment is rare, so one should reflect on the means of attaining it.

8. Rayanasaro

The Rayanasaro (162 Gathas) deals with the religious duties of laymen and monks. Some scholars are of view that this is the work of Kundakunda as it has a lot of Apabhramsa impact. But is not correct. This happened only due to ignorant copyists. There are many common ideas found in this work. Right faith is the root of the tree of liberation. Inauspicious mental attitude (Ashubhabhava) is inclined towards wicked and irreligious channels of activities while the auspicious one towards meritorious and religious ones. Bhakti is everywhere necessary in religious activities. In order to realize Atmatattva and Paratattva study is a sure remedy. Attachment is bondage and non-attachment is liberation. The three jewels stand for Gana and Gaccha, the various virtues mean Sangha, and Samaya is the pure soul. The great monk should not be attached to Gana etc., but he should cultivate three jewels with its attendant virtues, so that he will soon attain liberation.

Of these, venerable Munishri Pranamya Sagarji delineated the heart of the Linga Pahuda before the reader in a very successful and impressive way. He is an young Digambara Jain sage, the disciple of a renowned stage Acharya Shri

Vidyasagarji Maharaj possessing an enthusiasm to propagate Jainism through submitting the way of achieving the salvation (Moksha) as shown by Acharya Kundakunda of the first century A.D. in his Linga Pahuda. His way of expression is very powerful and fascinating. He is a very learned scholar of Jainism and a man of penance. The entire world of scholars is expecting much more from his brilliancy. His commentary on the Linga Pahuda in Sanskrit is an unique one.

This is perhaps the first commentary in the modern world which is composed in Sanskrit in detailed along with its Hindi translation.

Congratulations and regards.

Professor (Dr.) Bhagchandra Jain “Bhaskar”

Tukaramchal, Sadar,

NAGPUR-440001

Date: 08.08.2019

कुन्दकुन्दाष्टकम्

रचयिता - मुनि प्रणम्यसागर

(छन्द : स्रग्विणी)

(१)

सत्यपन्थाश्च येन प्रतिष्ठापितः
सत्यवादेन देवी गिरौ निर्जिता।
सत्यसन्देशको यो विनापेक्षया
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—ऊर्जयन्त पर्वत पर श्वेताम्बरों से हुए विवाद में जिन्होंने देवी को जीता और सत्य पन्थ अर्थात् दिगम्बर मत को प्रतिष्ठापित किया। जो बिना किसी की अपेक्षा के सत्य के समीचीन उपदेशक थे। उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(२)

प्राभृतं भूरिशो येन निर्मापितं
सत्यदैगम्बरं वर्त्म यत्राधृतम्।
यद्वचोभिर्मता यस्य सत्यात्मता
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिन्होंने अनेक प्रकार के पाहुडों की रचना की, जिसमें उन्होंने सत्य दैगम्बर मार्ग को रखा है। जिनके वचनों से ही जिनकी सत्यनिष्ठा का परिचय होता है, ऐसे श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(३)

सर्वभव्यार्थिनां मुक्तिमार्गैषिणा-
मात्मदृग्बोधसौख्याधिकाकांक्षिणाम्।
येन वृत्तं प्रदत्तं हि निःश्रेयसं
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—मुक्तिमार्ग की इच्छा करने वाले, आत्मा के दर्शन, ज्ञान और सुख की पूर्णता के आकांक्षी सभी भव्य जीवों को जिन्होंने मुक्ति देने वाला चारित्र प्रदान किया है, उन कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(४)

योऽत्र देवेन्द्र भूपेन्द्र दुर्वादिभिः
पूर्वसूरीश्वरैर्मुक्तिकामार्थिभिः।
भूरि संस्तूयते स्मर्यते वन्द्यते
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जो इस लोक में देवेन्द्र, राजा और दुष्ट वाद करने वालों से तथा मुक्ति की इच्छा करने वाले पूर्वाचार्यों के द्वारा खूब स्तुति को प्राप्त हुए, याद किए गए और वन्दित हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(५)

भव्यजीवाब्जिनीनाञ्च यो भास्करो
यस्य कुन्दावदाता सुदन्तावली।
नासिका तु प्रमाणं द्विनेत्रं नयौ
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—भव्य जीव रूपी कमलों को जो सूर्य के समान खिलाते हैं, जिनकी श्रेष्ठ दन्त पंक्ति कुन्द पुष्प के समान हैं, जिनकी नासिका प्रमाण को और दोनों नेत्र दो नयों की तरह हैं ऐसे श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(६)

यस्य शास्त्रे पदार्थाश्च तत्त्वानि वा
द्रव्यपर्यायभावस्वभावा गुणाः।
स्पष्टमाभान्ति वै दर्पणे बिम्बवत्
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिनके शास्त्र में सभी पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और पर्यायों के भाव, स्वभाव तथा गुण, दर्पण में बिम्ब के समान निश्चित ही स्पष्ट झलकते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(७)

यस्य सारत्रयं शोभते भूतले
यस्य वाणी प्रमाणात्मिका मन्यते।
शेमुषी यस्य मोहादिभिः शून्यका
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिनके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय से तीनों सार इस भूतल पर शोभित हैं, जिनकी वाणी प्रमाणात्मक मानी जाती है, जिनकी बुद्धि मोह आदि विकारों से रहित है, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(८)

शुद्धयोगार्पणाय प्रयत्नः सदा
शुद्धिजीवास्तिकायाय धीसम्पदा।
शुद्धतत्त्वार्थतायी च यः सर्वदा
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिनका प्रयास सदा शुद्धोपयोग की मुख्यता के लिए है, जिनकी बुद्धि रूपी धन शुद्ध जीवास्तिकाय के लिए है और जो शुद्ध तत्त्वार्थ का ही विस्तार करते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

मुनिप्रणम्यसागराष्टकम्

(स्रग्विणीछन्दसि)

यस्य भाले हि तेजो विवस्वत्समं, मानसे भाति सोमोपमा शीतता।
प्रीतिता सर्वलोकं प्रति प्राञ्जला, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥१॥
नेत्रयोर्भाति कारुण्यधारामला, भावना पावमानी हृदि भ्राजते।
लोकसेवा च येनाङ्गसङ्गीकृता, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥२॥
आशिषा यस्य पङ्गुर्गिरिं लङ्घ्यते, शक्तिहीनो बलेन द्रुतं जृम्भते।
यस्य कीर्तिश्च तारापथं चुम्बते, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥३॥
यन्मुखेन्दुप्रसूतं वचः पावनं, भक्तवृन्दं निपीयाशु देवायते।
यस्य सद्दर्शनेनाप्यते दैवतं, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥४॥
लोकमुद्धर्तुकामेन येनात्मनो, जीवनं पावनं सर्वमेवार्पितम्।
देवरूपाभिरामं महान्तं बुधं, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥५॥
यस्य निःस्वार्थताऽऽदर्शरूपात्मिका, काममोहादिकालुष्यसम्मर्दिनी।
यस्य वैराग्यरागोर्जिता साधना, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥६॥
यस्य वैदुष्यमालोक्य विद्योर्जितं, कान्दिशीकायते हन्त हा गीष्पतिः।
श्रावकोद्धारकं ज्ञानरत्नाकरं, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥७॥
मारसंहारकं मोक्षविद्योतकं, जैनसत्संस्कृतेर्नित्यसम्पोषकम्।
भक्तभक्तिप्रभाभास्करं भासुरं, सागरं तं प्रणम्य मुनीन्द्रं भजे॥८॥

श्रीमत्कचरणचञ्चरीकः

डॉ. मनोहरलालआर्यः

बी-413, वानप्रस्थाश्रम

पतञ्जलि योगपीठ (हरिद्वार)

7. आचार्यकुन्दकुन्द देव-सशक्त अनुशासक : लिङ्गपाहुड

इस लिङ्गपाहुड में श्रमण के अनेक क्रियाकलाप जो कि श्रमण के बाह्य लिंग के भी विपरीत हैं, उनका वर्णन है। कभी-कभी तो आश्चर्य भी होता है कि क्या उस समय में भी श्रमणों की इस प्रकार की प्रवृत्ति होती थी पर आज के परिवेश को देखकर उन सब क्रियाओं पर विश्वास होने लगता है कि हाँ ऐसा पहले भी होता था। एक कट्टर अनुशासक के रूप में आचार्यदेव का व्यक्तित्व इसी पाहुड को पढ़ने से देखने में आता है। पाप से मोहित बुद्धि वाले उस श्रमण को पशु कहने का साहस करना, यह उनके एक अनुशासक आचार्य के गुण को दिखाता है। अनेक लौकिक, पाप की क्रियाओं में लगे उस श्रमण को चेतावनी देकर उसकी नग्नता को धिक्कारा है और उसे पशु तुल्य कहा है। वास्तव में आचार्यदेव ने जिनलिंग की पूज्यता पर कोई आँच न आये, इस बात का भरसक प्रयत्न किया है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

श्रीश्रुतभक्ति

अथ पौर्वाहिक-स्वाध्याय-क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं, भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीश्रुतभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
 कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोनमः॥
 अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
 मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥
 अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
 चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं 'लिङ्गपाहुड' नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवविरचितं इदं शास्त्रं श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
 मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥
 सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वकल्याणकारणम्।
 प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥

कोटीशतं, द्वादश चैव कोट्यो, लक्षण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव।
 पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि॥१॥
 अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
 पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा॥२॥

इच्छामि भंते! सुदभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं अंगोवंगपइण्णयपाहुडय-
परियम्मसुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइधम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि,
पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं,
जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।

श्रीआचार्यभक्ति

अथ पौर्वाहिक स्वाध्याय क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकलकर्मक्षयार्थं, भावपूजावन्दना
स्तवसमेतं, श्री आचार्य भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

श्रुतजलधिपारगेभ्यः, स्वपरमत-विभावनापटुमतिभ्यः।
सुचरिततपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः॥१॥
छत्तीसगुणसमग्गे, पञ्चविहाचारकरणसंदरिसे।
सिस्साणुगहकुसले, धम्माइरिण् सदा वन्दे॥२॥
गुरुभक्तिसंजमेण य, तरंति संसारसायरं घोरम्।
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्मणमरणं ण पावेंति॥३॥
ये नित्यं व्रतमन्त्र-होमनिरताः ध्यानाग्निहोत्राकुलाः।
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः, साधुक्रियाः साधवः॥
शीलप्रावरणागुणप्रहरणाश्, चन्द्रार्कतेजोऽधिकाः।
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटाः, प्रीणन्तु मां साधवः॥४॥
गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शनायकाः।
चारित्रार्णवगम्भीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः॥५॥

इच्छामि भंते! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसणसम्मचारित्त-
जुत्ताणं पंचविहाचाराणं, आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण-
पालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ,
बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।

लिंगपाहुड

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥१॥

टीका—अथाहं श्रीमहतिमहावीरतीर्थगङ्गाप्रवाहितविमलसलिलधौताशेषाविवेक-तिमिरपटल-कलङ्कोत्तीर्णकामकोपप्रीतिपरुषवचनवनितास्पृहाप्रभृतिभवगहनप्रापणहेतुमिथ्याप्रपञ्चः पूर्वाचार्यमूल-परम्पराप्राप्तदिव्यज्ञानेन सज्जिताध्यात्मसिद्धान्ताचरणकथाप्रधानप्रसवनिमित्तोदञ्चमञ्चः पद्मनन्दिकुन्द-कुन्दनामद्वयं दधच्च संप्रतिकालसंजातश्रमणमनोगतभावं कलयंश्च श्रीकुन्दकुन्ददेवः किं करिष्यामि? **वोच्छामि** वक्ष्यामि निगदिष्यामि। कं कर्मतापन्नम् ? **समणलिंगं** आचार्योपाध्याय-साधुजनैराधृत-मर्हन्निव साक्षाद्धि मोक्षस्वरूपं श्रमणलिङ्गम्। द्रव्यभावभेदात्तद्विविधम्। तत्राह प्रवचनसारे द्रव्यलिङ्गस्वरूपम्—

जहजाधरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥

अन्वयार्थ—(अरहंताणं) अरहंतों को (तहेव) उसीप्रकार (सिद्धाणं) सिद्धों को (णमोकारं) नमस्कार (काऊण) करके (समणलिंगं) श्रमण लिंग को (समासेण) संक्षेप से (वोच्छामि) कहूँगा (पाहुडसत्थं) जो प्राभृत शास्त्र में कहा है।

टीकार्थ—श्री महतिमहावीर के तीर्थ रूपी गंगा से प्रवाहित निर्मल जल से समस्त अविवेक रूपी काले पटलों को साफ करके काम, क्रोध, प्रीति, कठोरवचन, स्त्रीवांछा आदि संसार रूपी महावन में ले जाने के हेतुभूत मिथ्या प्रपञ्चों के पार को प्राप्त पूर्वाचार्यों से आयी हुई मूल परम्परा से प्राप्त अलौकिक ज्ञान से अध्यात्म, सिद्धान्त, चरणानुयोग, प्रथमानुयोग की उत्पत्ति के निमित्तभूत सजे हुए उत्कृष्ट मंच वाले पद्मनन्दि तथा कुन्दकुन्द दो नामों को धारण करते हुए, वर्तमान पंचमकाल में होने वाले श्रमणों के मनोगत भावों को जानते हुए श्री कुन्दकुन्ददेव उस श्रमणलिंग को कहेंगे जो कि आचार्य, उपाध्याय तथा साधुजनों के द्वारा धारण किया जाता है तथा अर्हत् के समान साक्षात् मोक्ष स्वरूप श्रमण लिंग है। वह श्रमणलिंग द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें द्रव्यलिंग का स्वरूप **प्रवचनसार** में कहा है—

“वह लिंग यथाजात रूप से उत्पन्न हुआ, सिर तथा दाढ़ी के बालों के उखाड़ने से शुद्ध, हिंसादि से रहित तथा शरीरसंस्कार से रहित होता है।”

मैं वन्दना कर उन्हें परमेष्ठियों को, सिद्धों तथा जिनवरों जिन आर्हतों को।
सत् प्राभृती श्रमण लिंग सुखी बनाता, संक्षेप से तुम सुनो! तुमको सुनाता ॥१॥

परमाणुमात्रमपि सङ्गरहितत्वेन निर्ग्रन्थत्वं यथाजातरूपं यथाजातशिशोरिव संधारयन् द्वित्रिचतुर्वा मासान्तरे कूर्चकेशश्मश्रुकमुत्पाटितः सन् सर्वसावद्यवर्जितः स्वदेहं प्रति संस्कारपुष्ट्यादि-भावादपेतो द्रव्यलिङ्गवान् स्यात् । तस्यैवाभ्यन्तरेऽपि शुद्धात्मोपयोगभावनाबलेन मुहुर्मुहूरागादिरहित-चैतन्यपरिणतिपरिणतस्य तत्कृतोद्यमस्य मुनेरन्तरङ्गलिङ्गं श्रमणलिङ्गं भवतीति वेदितव्यम् । किं विशिष्टं श्रमणलिङ्गम् ? **पाहुडसत्त्वं** प्राभृतशास्त्रं प्राभृतशास्त्ररूपमित्यर्थः । किं नाम प्राभृतम् ? “जम्हा पदेहि फुडं तम्हा पाहुडं” (चूर्णिसूत्र 86) इति वचनात् विविधिपदार्थैः संप्रक्तमाभृतमिति प्राभृतम् । अथवा प्रकृष्टैस्तीर्थकरकेवलिश्रुतकेवलिभिराभृतं प्रस्थापितं यत् शास्त्रं तमिति । अथवा प्रकृष्टैर्यज्ञैरा-रातीयाचार्यवर्यैरवधारितं व्याख्यातं तत्प्राभृतम् । तेन प्रकृष्टतया प्रकृतविषयो यस्मिन् शास्त्रे भरितो भूतो वा तन्नाम प्राभृतशास्त्रम् । प्राभृतेऽस्मिन् श्रमणलिङ्गसम्बन्धिविषयोऽशेषरूपेणाख्यातस्तेन लिङ्गप्राभृत-शास्त्रमित्यभिहितं । केन प्रकारेण ?

समासेण संक्षेपेण संक्षिप्तरुचिशिष्याणाममृतविप्रवृत्तसाररूपतयेति । केन विधिना ? **णमोकारं काऊण** नमस्कारं कृत्वा । ‘फोः परस्परनमस्कारे’ इति वचनात् द्वितीय अवर्णस्य ओत् कृतं पुनश्च

अर्थात् परमाणु मात्र भी परिग्रह से रहित होने के कारण नव प्रसूत शिशु के समान निर्ग्रन्थ, यथाजात रूप को धारण करते हुए दो, तीन अथवा चार माह में दाढ़ी, सिर तथा मूँछ के बालों को उखाड़ते हुए, सर्वसावद्य रहित, अपनी देह के संस्कार, पोषण आदि भावों से रहित द्रव्यलिङ्ग वाला होता है । तथा अन्तरंग में भी शुद्धात्म उपयोग की भावना के बल से बारम्बार रागादि रहित चैतन्य परिणति से परिणत तथा उसी के लिए उद्यम करने वाले मुनि के अन्तरंग श्रमण लिङ्ग होता है, इस प्रकार जानना चाहिए । वह श्रमणलिङ्ग किस विशेषता वाला है ? प्राभृत शास्त्र रूप है अर्थात् प्राभृत शास्त्र में श्रमणलिङ्ग का स्वरूप कहा है ।

शंका-प्राभृत किसे कहते हैं ?

समाधान—“जम्हा पदेहि पुदं फुडं तम्हा प्राभृतम्” इस **चूर्णिसूत्र** के अनुसार जो अनेक पदों से अथवा पदार्थों से भरा हो, वह प्राभृत कहलाता है ।

अथवा प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थकरकेवली और श्रुतकेवली । इनके द्वारा जो स्थापित शास्त्र है, वह प्राभृत है । अथवा प्रकृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ आरातीय आचार्य, उनके द्वारा अवधारित या व्याख्यायित शास्त्र प्राभृत कहलाते हैं । इसलिए प्रकृष्ट रूप से प्रासंगिक विषय जिस शास्त्र में भरा हो, वह प्राभृत है । इस प्राभृत में श्रमणों के लिङ्ग सम्बन्धी विषय को (22 गाथाओं) में पूर्ण रूप से कहा है । इसलिए इसे लिङ्गपाहुड शास्त्र कहा है ।

संक्षिप्त रुचि वाले शिष्यों को यह ग्रन्थ अमृत बिन्दु के समान सार-रूप है ।

शंका- किस प्रकार से यह शास्त्र कहा है ?

समाधान- समास अर्थात् संक्षेप से ।

‘आदेस्तु’ इति नियमात् आद्यनकारस्य णकारो भूत्वा णमोकारमिति व्युत्पत्तिः। तथा ‘तुमत्तुआण तूणाः क्त्वः’ इत्यनेन क्त्वा प्रत्ययस्य तूणादेशात् काऊण इति प्राकृतभाषायां जायते निष्पत्तिः। केषाम् ? अरहंताणं अर्हतां चतुर्धातिविधिसंघातघातेनाऽनन्तचतुष्टयश्रिया विराजमानानामष्ट-प्रातिहार्यसहित-षट्चत्वारिंशद्गुणेन शोभमानानाम्। प्राकृते चतुर्थीविभक्त्यर्थे षष्ठीप्रयोगः। ‘ण शामः’ इत्यनेनारहंताण पश्चात् ‘क्त्वा सुपोस्तु सुणात्’ इति नियमात् अरहंताणं इति निष्पद्यते। पुनश्च केषां? सिद्धाणं सिद्धानामष्टकर्मरजोनिर्मूलतया विध्वंसकानामीषत्-प्राग्भारनामाष्टम-भूस्थितानाम्। केन प्रकारेण ? तथैव तथैव यथाभावविशुद्ध्याऽर्हतां नमस्कारः कृतस्तथैवेति प्रतिज्ञागाथा गता ॥1॥

उत्थानिका-अथ तत्श्रमणलिङ्गस्य स्वरूपमभिधित्सुराह-

धम्मणेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।

जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥2॥

शंका-किस विधि से यह ग्रन्थ कहेंगे ?

समाधान-नमस्कार करके। यहाँ ‘नमस्कार’ शब्द में “फोः परस्परनमस्कारे” इस प्राकृत सूत्र से द्वितीय अवर्ण को ओत् करके ‘आदेस्तु’ इस सूत्र से आद्य नकार को णकार करके ‘णमोकार’ इस शब्द की प्राकृत में व्युत्पत्ति होती है। तथा “तुमु.....” इस सूत्र से क्त्वा प्रत्यय को तूण आदेश करके काऊण शब्द बनता है।

शंका-किनको नमस्कार करके ?

समाधान-अरिहंतों को, जो कि चार घातिया कर्मों के समूह के नाश से अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से विराजमान तथा अष्ट प्रातिहार्यों के साथ छियालीस गुणों से शोभित हैं।

प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। “ण शामः” इस सूत्र से तथा “क्त्वासुपो...” इस सूत्र से अरहंताण शब्द से अरहंताणं पद की निष्पत्ति होती है।

शंका-और किनको नमस्कार करके ?

समाधान-सिद्धों को, जो कि अष्टकर्म रूप धूलि का निर्मूल विध्वंस करने वाले हैं तथा ईषत्-प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी पर स्थित हैं। जिस प्रकार भावविशुद्धि से अरिहंतों को नमस्कार किया है, उसी प्रकार सिद्धों को भी। इस प्रकार प्रतिज्ञा गाथा पूर्ण हुई ॥1॥

उत्थानिका-अब उस श्रमण लिंग के स्वरूप को कहने की इच्छा करते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ-(धम्मणेण) धर्म के साथ (लिंगं) लिंग (होइ) होता है। (लिंगमत्तेण) लिंग मात्र से (धम्मसंपत्ती) धर्म की प्राप्ति (ण) नहीं होती है। (भावधम्मं) इसलिए भावधर्म को (जाणेहि) जानो (ते) तेरा (लिंगेण) लिंग से (किं) क्या (कायव्वो) कार्य होता है।

सद्धर्म से सहित हो वह लिंग सारा, पावे न धर्म-धन, केवल-लिंग द्वारा।

तू जान भावमय धर्म अरे ! रुची से, है मात्र लिंग वह व्यर्थ रहा इसी से ॥2॥

टीका-ण लिंगमत्तेण न लिङ्गमात्रेण; नाग्न्यमयूरपिच्छकेशश्मश्रुकूर्चलुञ्चनादि-बाह्य-लक्ष्मलक्षितलिङ्गमात्रेण न भवति। का? **धम्मसंपत्ती** धर्मसंप्राप्तिः; संसारसंसरणतो निवृत्तिर्येन भवति स धर्मः तस्य संप्राप्तिर्धर्मसंप्राप्तिः। अथवा धर्म एव संपत्तिः धनं वा सा धर्मसंपत्तिः 'डीप्प्रत्यये' इति वचनात्। यतश्च वर्तते हि लोके नग्नत्वं सहजतया सर्वेषु प्राणिषु जन्मसमागमे बाल्यकाले भोगानुभवने स्नपनक्षणे मरणसमये तथा तिर्यञ्चश्चापि सर्वकाले नग्ना इति विज्ञाय नाग्न्यलिङ्गमात्रेण मुक्तिर्न माननीया। तर्हि कुतो भवति लिङ्गम् ? **धम्मेण होइ लिंगं** धर्मेण भवति लिङ्गम्। को नाम धर्मः? अहिंसा परमो धर्मः, धम्मो दयाविसुद्धो, रयणत्तयं च धम्मो, उत्तमखमादिभावो य दसविहोधम्मो, दंसणमूलो धम्मो, चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो वत्थु सहावो इत्यादि बहुप्रकारेण धर्मः प्रसिद्धः। तत्र सर्वत्राभ्यन्तर-निर्मलभावरूपं चिज्ज्योतिःस्वरूपं धर्मं भावयेत्। तस्मात् किं करणीयं ? **जाणेहि** जानीहि हे भव्य ! त्वं विद्धि प्रतिसमयं भावय भावय। कम् ? **भावधम्मं** भावधर्मं, रसरूपगन्धस्पर्शमयं यज्जगद् दृश्यते तस्मादात्यन्तिकं विविक्तमात्मनः स्वरूपं शुद्धभावधर्मम्। तद्यथा-ममात्मस्वरूपोऽरसः, ममात्म-स्वरूपोऽरूपः, मम स्वरूपो निर्गन्धः, अव्यक्तस्वरूपोऽहम्, स्वसंवेदनज्ञानेनैव ग्राह्योऽहम्, द्रव्यकर्म-नोकर्मभ्यामसंस्पृष्टोऽहम्, जले कमलवत् संसाराद् भिन्नोऽहम्, आजन्मतो मम ज्ञस्वभावोऽवस्थितः, अखण्डितोऽहम्, अनाकुल-स्वरूपोऽहम्, परद्रव्यसंयोगरहितोऽहम्, एकोऽहम्, आद्यन्तविमुक्तोऽहम्,

टीकार्थ-नग्न हो जाना, मयूर पिच्छी धारण कर लेना, शिर, दाढ़ी, मूँछ के केश-लुञ्चन कर लेना आदि बाह्य लक्षण वाले चिह्नों से पहचान में आने वाले बाह्य लिंग मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। संसार में परिभ्रमण जिसके द्वारा रुक जाता है, वह धर्म है, उसकी प्राप्ति ही धर्म की प्राप्ति है। अथवा **धम्म सम्पत्ती** इसका दूसरा अर्थ है, वही धर्म ही सम्पत्ति है। चूँकि इस लोक में नग्नता सहजरूप से सभी प्राणियों में जन्म के समय, बाल्य अवस्था में, भोग अनुभवन के समय, स्नान के समय, मरण के समय होती है। तिर्यञ्च भी हमेशा नग्न रहते हैं। ऐसा जानकर नग्न लिंग मात्र से मुक्ति नहीं मान लेना चाहिए। तो फिर लिंग किससे होता है ? धर्म से। वह धर्म क्या है ? अहिंसा परम धर्म है। वह धर्म दया से विशुद्ध है, स्तनत्रय का नाम धर्म है, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार का धर्म है, सम्यग्दर्शन मूलक धर्म है, सम्यक् चारित्र ही धर्म है, वस्तु का स्वभाव धर्म है, इत्यादि बहुत प्रकार से धर्म प्रसिद्ध है। इन सभी धर्मों में अभ्यन्तर में निर्मल भाव वाले चैतन्य ज्योति स्वरूप धर्म की मुख्य रूप से भावना करनी चाहिए। इसलिए हे भव्य ! तुम प्रतिसमय उसी भाव धर्म की भावना करो। रस-रूप-गन्ध-स्पर्शमय जो यह जगत् देखा जाता है, उससे अत्यन्त भिन्न आत्मा का स्वरूप शुद्धभाव धर्म है। वह इस प्रकार भाओ-मेरा आत्मस्वरूप रस से रहित है, मेरा आत्मस्वरूप रूप रहित है, मेरा स्वरूप गन्ध रहित है, मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ, मैं अपने स्वसंवेदन ज्ञान से ही ग्रहण योग्य हूँ, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्मों से मैं अस्पृष्ट हूँ, जल में कमल के समान मैं संसार से भिन्न हूँ, अनादिकाल से मेरा ज्ञान स्वभाव अवस्थित रहा है, मैं अखण्डित हूँ, अनाकुल स्वरूप हूँ, मैं पर द्रव्य के संयोग से रहित हूँ, मैं एक हूँ, आदि और अन्त से रहित हूँ, मैं समस्त

समस्तसंकल्पविकल्प- विमुक्तोऽहम्, निर्ममोऽहम्, योगीन्द्रगम्योऽहम्, सच्चित्-स्वभावोऽहम्, जगति शून्योऽहम् चैतन्यप्राणोऽहम्, तथा चोक्तं समयसारे-

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्धं।

जाण अलिंगगहणं जीवमणिद्विदुसंठाणं ॥

इत्यादिगाथामजस्रं जपन् शुद्धभावेनात्मनि निश्चलतामुपेतु।

पुनश्च किं विचिन्त्यम्?। किं ते लिंगेण कायव्वो किं त्वया लिङ्गेन कर्तव्यमिति। किमुद्दिश्य प्रव्रज्या गृहीता। किमर्थमेतद्भूरिकृच्छ्रमनुष्ठानमाश्रयसि। तदर्थं हि दीक्षाकालादि विचिन्त्यते तथा चोक्तं भावप्राभृतेऽपि-

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो।

उत्तमबोहिणिमित्तं असारसंसारमुणिऊण ॥

(भावपाहुड 110) ॥2 ॥

उत्थानिका-अथ भावेन विना बाह्यभेषमात्रेण का हानिः स्यादिति प्रदर्शयितुमाह-

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।

उवहसइ लिंगिभावं लिंगं णासेदि लिंगीणं ॥3 ॥

संकल्प-विकल्पों से मुक्त हूँ, मैं निर्मम स्वरूप हूँ, मैं योगीन्द्रों के द्वारा जाना जाता हूँ, मैं सत्तास्वरूप चैतन्य स्वभाव वाला हूँ, मैं इस संसार में शून्य हूँ, मात्र चैतन्य प्राणों वाला मैं हूँ।

जैसा कि समयसार ग्रन्थ में कहा है-“इस जीव को रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, अव्यक्त, चेतना गुण सहित, शब्द रहित, किसी भी चिह्न से ग्रहण नहीं होने वाला तथा अनिर्दिष्ट संस्थान वाला जानो।” इत्यादि गाथा का निरन्तर जाप करते हुए शुद्धभाव से अपनी आत्मा में निश्चलता को प्राप्त होओ।

तथा यह चिन्तन करना है कि तुम्हें इस लिंग से क्या करना है, क्या उद्देश्य करके तुमने दीक्षा ग्रहण की है, किसलिए इतना अधिक कष्ट वाले अनुष्ठान का आश्रय लेते हो। इन सब भावनाओं को करने के लिए ही दीक्षा काल का चिन्तन किया जाता है।

जैसा कि भावपाहुड में कहा है-“इस असार संसार को जानकर, उत्तम बोधि की प्राप्ति के लिए, विकार रहित दर्शन से विशुद्ध होते हुए दीक्षा काल आदि की भावना करनी चाहिए।” ॥2 ॥

उत्थानिका-भाव के बिना बाह्य भेष मात्र से क्या हानि होती है ? यह दिखाते हैं-

अन्वयार्थ-(जिणवरिंदाणं) जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थकरदेव के (लिंगं) लिंग को (घेत्तूण)

निर्ग्रन्थ लिंग जिसने मुनि हो सुधारा, पै पाप पंक मल से मन को बिगारा।

वो “भाव लिंग” जिसकी करता हँसी है, सो अन्य साधु-मुख में लगती मषी है ॥3 ॥

टीका-जो यो जनः। किं विशिष्टः? **पावमोहिदमदी** पापं किल्बिषं तेन मोहिताऽभिभूता मतिर्बुद्धिर्यस्य स पापमोहितमतिः। किं करोति? **उवहसइ** उपहसति उपहासं कुरुते इत्यर्थः। कं प्रति? **लिङ्गिभावं** यथार्थभेषधारिणां यथोचितसूत्रानुसारचरितानां पूज्यमुनीनां भावलिङ्गिनां शुद्धभावम्। परेषामुपहासस्थानीयो भवतीत्यर्थः। किं कृत्वा पूर्वम्? **लिङ्गं घेत्तूण** लिङ्गं गृहीत्वा स्वयमपि जिनवरविहितलिङ्गमादाय। केषाम्? **जिणवरिंदाणं** जिनवरेन्द्राणां सासादनसम्यग्दृष्ट्यादि-जिनसंज्ञामुपलभते, तेषां वराः श्रेष्ठाः अनगारधर्मं सेवमानाः आचार्योपाध्यायसाधुगणधरादिदेवाः तेषां मध्ये प्रमुखा इन्द्रा वृषभादिवीरपर्यन्ततीर्थकराः अतीतभाविवर्तमानकालप्रवर्तमानार्हन्तो वा तेषां जिनवरेन्द्राणामिति। स श्रमणः कां हानिमाश्रयते? **णासेदि** नाशयति दूषणं कारयति परेणेत्यर्थः। कं प्रति? **लिङ्गं** साक्षात् मुक्ति-प्रसादं लिङ्गम्। केषाम्? **लिङ्गीणं** यथोक्तवृत्तप्रवर्तमानानां लिङ्गिनामिति। जनैरन्यैस्तं लिङ्गं प्रत्यनादरभावमुत्पादयति। तद्यथा-एष जिनधर्मः किमेवं संचरतो मुक्तिर्महावीरशासने? इत्याद्यनेकविधवाच्यदर्शनादवर्णवादसंभवत्वाच्च महावीरभगवतोऽनादर एव कृतः॥३॥

ग्रहण करके (जो) जो (पावमोहिदमदी) पाप से मोहित बुद्धि वाला मुनि (लिङ्गिभावं) लिङ्गी भाव का (उवहसइ) उपहास कराता है, वह (लिङ्गीणं) अन्य शुद्ध जिनभेषियों के (लिङ्गं) स्वरूप को (णासेदि) भी दूषित करता है।

टीकार्थ-जिसकी बुद्धि पाप से युक्त है, वह यथोचित आगम के अनुसार चलने वाले यथार्थ भेषधारी भावलिङ्गी पूज्य मुनियों के शुद्ध भाव की दूसरों से हँसी कराता है। वह स्वयं भी जिनवर के द्वारा कथित लिङ्ग को धारण करता है। सासादन सम्यग्दृष्टि आदि जिन कहलाते हैं, उनमें जो श्रेष्ठ हैं, वे अनगार धर्म का आचरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय, साधु, गणधर आदि देव जिनवर कहलाते हैं। उनमें भी जो श्रेष्ठ हैं, वे अतीत, अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी अरहन्त अथवा वृषभादि महावीरपर्यन्त तीर्थकर होते हैं। ऐसे जिनवरेन्द्रों के लिङ्ग की वह दूसरों से हँसी कराता है।

शंका- वह श्रमण किस हानि का आश्रय लेता है?

समाधान-दूसरों से लिङ्ग में दूषण लगवाता है, इस तरह लिङ्ग का नाश करवाता है तथा यथोक्त आचरण करने वाले लिङ्गियों के साक्षात् मुक्ति प्रसाद को देने वाले लिङ्ग के प्रति अन्य जनों से अनादर भाव उत्पन्न कराता है। वह इस प्रकार है-यह जिनधर्म है! क्या इस प्रकार आचरण करने से महावीर के शासन में मुक्ति होती है! इत्यादि अनेक प्रकार की निन्दा होने से और अवर्णवाद की संभावना होने से मानो उस श्रमण ने भगवान् महावीर का ही अनादर किया है॥३॥

उत्थानिका- भूत्वापि मुनिः स किं कारणादवर्णवर्णनपात्रतामुपलभत इति वर्णयति-

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।

सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥4 ॥

टीका- यो हि किं कुरुते ? **णच्चदि** नृत्यति समुच्चलति देहं सधर्मिणामग्रे क्वचिद्विहारे मन्मथगत्या विहरति । चर्याकाले वा गृहमेधिनां तरुणयुवतीनां समक्षे स त्वरेण मन्दायते । किञ्च कश्चिद्विदितनृत्यकलाक्रमः परेषां प्रशिक्षते नृत्यम् । क्वचित् तासां नर्तनं दिदृक्षते । नर्तनं कलाकेलिं च दृष्ट्वा ताभ्यः प्रहृष्टाशीर्दत्ते । पुनरपि किं ? **गायदि** गायति पृथक्-पृथक्स्वराणामारोहणावरोहण-क्रमविशेषैर्मालवपञ्चमेन स्वरेण वा मञ्जुलगानम् । रागवर्धनकारिणा मधुरालापेन चेतोहारिलयेन भक्तिवन्दनास्तवनं संस्तौति । अपरञ्च प्राक् चलचित्रपटालये दृष्टश्रुतगायकगीतोऽभिनवगानं तत्समलयध्वनिधारायां विरचयते । मधुरावदातं गानं ललनास्येन श्रोतुमुत्सहते । अन्योऽपि किमु? **तावं वायं वाएदि** तावत् वाद्यं वादनयंत्रं वादयति वदति वा कांस्यमाङ्गलवादित्रढक्कातालादि वाद्यं । अथवा वादकेन वाद्यं रागप्रकर्षेण संशृणोति । केन भेषेण ? **लिंगरूवेण** जिनलिङ्गभेषेण **सो सः** ।

उत्थानिका- मुनि होकर भी किन कारणों से श्रमण अवर्णवाद का पात्र होता है ?

अन्वयार्थ-(लिंगरूवेण) इस लिंग के साथ (**णच्चदि**) जो नाचता है (**गायदि**) गाता है । (**तावं**) तथा (**वायं**) वाद्य यन्त्र (**वाएदि**) बजाता है (**सो**) वह (**पावमोहिदमदी**) पापमोहितमती (**तिरिक्खजोणी**) पशु है । (**सो समणो ण**) वह श्रमण नहीं है ।

टीकार्थ- यहाँ नाचने से तात्पर्य मटक-मटक कर चलने से है । जो साधर्मियों के सामने अथवा विहार में मन्मथ (मन्थर/कामुक) गति से चलता है । आहारचर्या के समय गृहस्थों या तरुण स्त्रियों के समक्ष तेजी से चलकर फिर धीमी गति से चलता है । कोई पूर्व में नृत्यकला को जानने वाला दूसरों को नृत्य का प्रशिक्षण देता है । कभी उनका नृत्य बार-बार देखता है । उनके नृत्य तथा कलात्मक क्रीड़ाओं को देखकर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देता है तथा अलग-अलग स्वरों के उतार-चढ़ाव के साथ अथवा मालव पञ्चम स्वर से मधुर गीत गाता है । राग को बढ़ाने वाले, चित्त को चुराने वाले, सिनेमा गीतों की लय वाले मधुर आलाप से भक्ति, वन्दना, स्तवन करता है । पहले सिनेमा में गायकों के गीत देखे तथा सुने हैं उन्हीं के समान लय, ध्वनि में नये गीतों को बनाता है । अच्छे, मधुर गानों को स्त्री मुख से सुनने के लिए लालायित रहता है । वाद्य यन्त्रों को बजाता है

निर्ग्रन्थ-रूप धर वाद्य मनो बजाता, है नित्य नृत्य करता रति गीत गाता ।

है पाप पंक मल से मन पे लिपाता, होता नहीं श्रमण वो पशु ही कहाता ॥4 ॥

कथंभूतः? **पावमोहिदमदी** पापमशुभकर्म तेन मोहिता पराभूता मतिर्विवेकविचारणा यस्य स पापमोहितमतिः अशुभोपयोगभावेन वञ्चितबुद्धिः। किं स्यात् ? **ण समणो** न श्रमणः शुभशुद्धभावेभ्यः सततश्रमशीलः श्रमणः, **सो** सः। तर्हि किं भवेत् ? **तिरिक्खजोणी** तिर्यग्योनिः स्वच्छन्दवृत्तिमत्त्वात् पशुरेवेति तात्पर्यः ॥4 ॥

उत्थानिका-पुनरपि किं कुर्वाणः श्रमणो वाच्यतामुपैतीति प्रतिपादयति-

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।

सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥5 ॥

टीका-यो हि मुनिः किं करोति? **सम्मूहदि** समूहयति मोक्षमार्गायोग्यवस्त्रवसुवस्तुप्रभृति-परिग्रहान् तीर्थसंरक्षणपाठशालानवतीर्थनिर्माणादिधार्मिकप्रयोजनार्थं निजपरिवारगृहसंरक्षणादि-लौकिककार्यार्थं वा संगृह्णीते। केन प्रकारेण ? **बहुपयत्तेण** बहुप्रयत्नेन यथा भवेत्तथेत्यर्थः। किञ्च किम्? **रक्खेदि य** रक्षति च तत्परिग्रहं येन विपद्दुःखयशोविघ्नप्रत्यूहाश्च नोपतिष्ठन्ताम्। तेन किमस्ति? **अट्टं झाएदि** आर्तं ध्यायति; यन्नास्ति तस्य संप्रयोगाय च संप्रयोगे तद्रक्षणायाजस्रं मनसि प्रयतते। स च

अथवा दूसरों से कांस्य, मांगल, वादित्र, ढक्का ताल आदि बजवाता है और वादक के वाद्य को राग की उत्कृष्टता से सुनता है। अशुभ कर्म करना ही पाप है। उस पाप से जिसकी बुद्धि मोहित हुई है वह विवेकपूर्ण विचार से रहित अशुभोपयोग के भाव से वंचित (ठगी) बुद्धि वाला है। वह श्रमण स्वच्छन्द वृत्ति वाला होने से पशु तुल्य ही है क्योंकि श्रमण तो वह कहलाता है, जो शुभ अथवा शुद्ध भावों से निरन्तर श्रम स्वभाव वाला हो ॥4 ॥

उत्थानिका- पुनः क्या करता हुआ श्रमण निन्दा को प्राप्त होता है, यह बताते हैं-

अन्वयार्थ-जो मुनि (**बहुपयत्तेण**) बहुत प्रयत्न के साथ (**सम्मूहदि**) पदार्थों का संग्रह करता है (**य**) और (**रक्खेदि**) रक्षा करता है (**अट्टं**) आर्तध्यान को (**झाएदि**) ध्याता है (**सो**) वह (**पावमोहिदमदी**) पाप से मोहित बुद्धि वाला (**तिरिक्खजोणी**) पशु है (**सो समणो ण**) वह श्रमण नहीं है।

टीकार्थ-मोक्षमार्ग के अयोग्य वस्त्र, धन, वस्तु आदि परिग्रह को तीर्थ संरक्षण, पाठशाला, नये तीर्थों के निर्माण आदि धार्मिक प्रयोजन के लिए अथवा अपने परिवार जन, घर के संरक्षण आदि लौकिक कार्यों के लिए ग्रहण करता है तथा उस परिग्रह की जैसे हो सके वैसे बहुत प्रयत्न से रक्षा करता है ताकि कोई आपत्तियाँ, दुःख, यश में विघ्न आदि न आ सकें। इससे क्या होता है?

जो संग का ग्रहण रक्षण में लगे हैं, हैं आर्त ध्यान करते मुनि हो डिगे हैं।

हैं पाप पंक मल से मन को लिपाते, होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥5 ॥

स्मृतिसमन्वाहारादार्तध्यानं लौकिकजनसंपर्कबहुलाद् ध्यायति । सो सः किमुच्यते? पावमोहिदमदी पापमोहितमतिः । पुनरपि किम्? तिरिक्खजोणी तिर्यग्योनिः । कस्मात् कारणात्? निःश्रेयसवर्त्मप्रतिकुटिलाचरणचरत्वात् कषायबहुलत्वाच्च । तस्मात् किं? सो ण समणो स न श्रमणोऽस्तीति क्रियाध्याहारः ॥5॥

उत्थानिका-पुनश्च तस्य कुचेष्टामाचष्टे-

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।

वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगरूवेण ॥6॥

टीका-लिंगी जिनलिङ्गधृत् बहुमाणगव्विओ बहुमानगर्वितः । तद्यथा-अहं मुनिरस्मि दुर्धरतपः कृतवानस्मि महालसस्य पञ्चेन्द्रियस्य चाहं विजयी, निजनिकेतनस्य बहुतलस्याऽहमेक एवेशोऽभवम्, परिवारेऽपि मयि पृथक् पृथक् प्रतिसदस्याधिकारे प्रभूतधनद्विचक्रिकाचतुश्चक्रिकादिरासीत् । तत्र रजतस्नमौक्तिककाञ्चनप्रभृतयो बहुमूल्यवस्तुसमूहा अहर्निशं दीनेभ्यो दाने प्रदीयन्तेस्म । मन्त्रीशत्व-महामात्याध्यक्षपाटिलत्वपदवी तु सन्तानक्रमेणागता इत्यादि प्रकारेणाष्टविधमदैर्गर्वितः सन् किं स्यात्?

आर्तध्यान करता है । जो प्राप्त है उसके रक्षण के लिए तथा जो नहीं है उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर मन में प्रयत्नशील रहता है । अतः निरन्तर मन में स्मृति समन्वाहार चलने से तथा लौकिक जनों से सम्पर्क की बहुलता होने से आर्तध्यान ध्याता रहता है । इसलिए वह पाप से मोहित बुद्धि वाला निःश्रेयस मार्ग के प्रति कुटिल आचरण वाला होने से तथा कषाय बहुल होने से पशु ही है, श्रमण नहीं है ॥5॥

उत्थानिका- पुनः उसकी कुचेष्टाओं को बताते हैं-

अन्वयार्थ-(लिंगी) जो मुनि (बहुमाणगव्विओ) बहुत मान से गर्वित होकर (णिच्चं) हमेशा (कलहं) कलह करता है (वादं) वाद-विवाद करता है (जूवा) जुआ खेलता है, वह (लिंगरूवेण) जिनलिंग के रूप के साथ (पाओ करमाणो) पाप करता हुआ (णरयं) नरक में (वच्चदि) जाता है ।

टीकार्थ-जिनलिंगधारण कर के बहुत मान से गर्वित होता है जैसे कि मैं मुनि हूँ, मैं दुर्धरतप को करता हूँ, बहुत आलस्य देने वाली पञ्चेन्द्रियों का मैं विजयी हूँ, बहु मंजिल मकान का मैं एक ही मालिक था, मेरे परिवार में अलग-अलग प्रत्येक व्यक्ति के लिए बहुत धन, दो पहिया वाहन मोटर गाड़ियाँ आदि थे, वहाँ चाँदी, रत्न, मोती, सोना आदि बहुमूल्य वस्तुएँ प्रतिदिन दीनों के लिए

खेलो जुवा कलहवाद वृथा करे हैं, मानी प्रमत्त बन के मद से भरे हैं ।

निर्ग्रन्थ बाह्य मुनि यद्यपि हैं तथापि, पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥6॥

कलहं वैमनस्कतेर्ष्यादिकलहं कलयति । तेन किम् ? **जूवा** द्यूतक्रीडायां प्रवर्तते, राजनियमस्योल्लंघनं विधत्ते, गृहस्थगृहीतवित्तं वित्तीयसंस्थायां संप्रेष्य तत्प्राप्तर्णेन मद्यते । पुनश्च किम् ? **वादं** परस्परे विसंवादं कुरुते । क्व ? **णिच्चं** नित्यं सदाकाल एव । केन भेषेण ? **लिंगरूवेण** अर्हन्मुद्राङ्कितेन नाग्न्यलिङ्ग-रूपेणेति । तत्फलेन क्व गच्छति ? **णरयं वच्चदि** नरकं रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूम-तमोमहातमःप्रभाभूमिषु व्रजति । किं कुर्वाणः सन् ? **पाओ करमाणो** मुक्तिमार्गविरुद्धाप्रशस्तभावं पापं कुर्वाणः सन्नित्यर्थः ॥6॥

उत्थानिका-अथैतानि मार्गप्रतिकूलप्रवृत्तचरितेनातिनिन्दितानि कार्याणि अपि सम्भवन्तीति प्रबोधयति-

**पावोपहदभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥7॥**

टीका-स पूर्वोक्तकार्यकुशलः श्रमणः किं करोति ? **सेवदि** सेवते । कं विषयम् ? **अबंभु य** अब्रह्म च सर्वदुरितमूलमतिरौद्रानुष्ठानं पशुकर्म वेत्यर्थः । चशब्दः सर्वविकल्पसंग्रहार्थम् । केनभेषेण ?

दान में दी जाती थी । मंत्री, राजा, महामात्य, अध्यक्ष, पाटिल आदि पदवियाँ तो परम्परा से बाप, दादा के जमाने से चली आ रहीं हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से आठ प्रकार के मद से गर्वित होता हुआ वैमनस्क भाव, ईर्ष्या, कलह आदि करता रहता है । द्यूत क्रीड़ा में प्रवृत्ति करता है, राज्य के नियमों का उल्लंघन करता है, गृहस्थों से धन लेकर वित्तीय संस्था (Bank) में भेजकर उससे प्राप्त ब्याज से मद को प्राप्त होता है । परस्पर में सदा विसंवाद करता है । ऐसा वह किस भेष में करता है ? अर्हत् मुद्रा से अंकित इस नाग्न्य भेष में करता है । उस के फल से मोक्षमार्ग के विरुद्ध अप्रशस्त भावों से पाप करता हुआ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा इन नरक भूमियों में जाता है ॥6॥

उत्थानिका-मार्ग के प्रतिकूल चरित्र से प्रवृत्ति द्वारा ये अतिनिन्दित कार्य और होते हैं, उन्हें बताते हैं-

अन्वयार्थ-(**लिंगिरूवेण**) जिनलिंग के रूप के साथ (**पावोपहदभावो**) जो पाप से नष्ट भाव वाला (**अबंभु य**) अब्रह्म का (**सेवदि**) सेवन करता है (**सो**) वह (**पावमोहिदमदी**) पाप से मूर्च्छित बुद्धि वाला (**संसारकांतारे**) संसार रूपी वन में (**हिंडदि**) भ्रमण करता है ।

टीकार्थ-वह पूर्वोक्त कार्य करने में कुशल श्रमण सभी पापों के मूल, अत्यन्तरौद्र कार्यात्मक पशुकर्म रूप अब्रह्म का सेवन करता है । च शब्द अन्य सभी विकल्पों के समुच्चय के लिए है ।

निर्ग्रन्थ हो सहित मैथुन कार्य से हैं, पापी बने उदय पूर्ण अनार्य से हैं ।
हैं पापरूप मल से मन औ लिपाते, संसार के विपिन में भ्रम दुःख पाते ॥7॥

लिङ्गिरूवेण जिनलिङ्गिरूपेण। तस्मात् किम् ? **सो पावोपहदभावो** स पापोपहतभावः पापात् कश्मलक्रियाविधानादहर्निशं यस्य मार्गोपयोगिप्रशस्तभाव उपहतः आहतः पराभूतः स पापोपहतभावो भवति। तेन किं पुनश्च ? **पावमोहिदमदी** पापमोहितमतिरित्युपाधिनाऽपलप्यते। ततश्च क्व वसति ? **हिंडदि संसारकांतारे** हिंडते परिभ्रमति संसारकांतारे हृषीकराक्षसाक्रान्ते स्मरशार्दूलभक्षिते चतुर्गतिभवव्यसनाकुलिते। इतो विशेषः—नृत्यगायनादिबहुप्रकाराः कलाश्चतुःषष्टिकलान्तरे स्त्रीणां पुरुषाणाञ्च द्वासप्ततिकलामध्येऽभि-हितास्तेन स्त्रीपुरुषयोः परस्परे कर्मादानप्रदाने सहजेन मनसि कला मोहमुपजायन्ते। कुरूपोऽपि गायको युवतीनां प्रियो भवति। रूपलावण्यसम्पन्नाऽपि महिषी स्वपतिसहरतिक्रियासेवमानाऽमृतमतिनामा महावतस्य मधुरस्वरसंप्रक्तं सुखावहं गीतं संश्रुत्य पाशेनाकृष्टेव तदैव तदवाप्तुं स्पृहवती बभूव। अहो वैचित्र्यमित्थंभूतकण्ठस्थितकामदेवस्येत्येक एव दृष्टान्त एकस्याः कलायाः। कथाऽन्यापि बहुला कथा प्रबन्धेषूक्ता विज्ञेया। तस्मात् सर्वसौख्यमूलं ब्रह्मव्रतं परिरक्ष्यं प्रयासेन। तद्रक्षणार्थमिमा भावना भावनीयाः—

इत्थिकहा इत्थिसंसर्गहासखेलपलोयणे।
णियमम्मि टिठदो णियत्तो य चउत्थं वदमस्सिदो ॥

तेन स्त्रीसम्बन्धिनी कथा वार्ता चैकान्तेऽनेकान्तेऽपि सधर्मिणा सह ताभिश्च न कार्या। मिथः संभाषणं सम्बन्धस्याद्यकारणम्। ततश्च भवति संसर्गः सहोपवेशनगमनादिः। तदनन्तरे हि प्रादुर्भवति

जिनलिङ्गी स्वरूप से वह ऐसा करता है इसलिए उसके भाव पाप से आहत (पीड़ित) हुए हैं। वह कलुषित क्रियाओं के आचरण से निरन्तर मार्ग के लिए उपयोगी प्रशस्त भावों से हारा हुआ (रहित) है, इसलिए वह ‘पापमोहितमती’ इस उपाधि से कहा जाता है। जिससे वह इन्द्रिय रूपी राक्षसों से भरे हुए, काम रूपी शार्दूल से भक्षित चतुर्गति में होने वाले कष्ट से भरे संसार रूपी जंगल में परिभ्रमण करता है। यहाँ विशेष कहते हैं—स्त्री की नृत्य-गायन आदि चौंसठ कलायें और पुरुष की बहत्तर कलायें कही हैं। इस कारण से स्त्री-पुरुष के बीच क्रियाओं का आदान-प्रदान होने पर कलायें सहज ही मन में मोह उत्पन्न करती हैं। गायन कला की यह विशेषता है कि वह गायक यदि कुरूप भी हो तो भी युवतियों का प्रिय हो जाता है। देखो! रूप लावण्य से सम्पन्न अपने पति से रतिक्रिया करने वाली अमृतमति नाम की रानी महावत के मधुर स्वर युक्त सुखदायक गीतों को सुनकर उसी समय जाल में आकृष्ट हुए के समान उस महावत की इच्छा करने लगी। अहो! कण्ठ में बैठे इस कामदेव का यह वैचित्र्य है। यह तो एक कला का एक दृष्टान्त है। अन्य भी कथायें कथा प्रबन्ध में कही गयी हैं, उन्हें जान लेना चाहिए। इसलिए समस्त सुखों का मूल ब्रह्मचर्य व्रत है, इसकी प्रयास पूर्वक रक्षा करना चाहिए। उसकी रक्षा के लिए ये भावनायें भाना चाहिए।

“स्त्रीकथा, स्त्री संसर्ग, उनसे हास्य, खेल और प्रलोभन से निवृत्त होकर निजात्मा में जो स्थित होता है, उसके चौथा महाव्रत होता है।” इसलिए स्त्री सम्बन्धी कथा, वार्ता एकान्त में अथवा सबके समक्ष, सधर्मीजन के साथ या स्त्रियों के साथ नहीं करना चाहिए। परस्पर बातचीत होना ही

हास्यं खेलश्च वर्करः क्रीडाविहारः कामकेलिवेति । ततश्चानिमेषप्रलोकनमभिलषति । अथवा तासां प्रलोभने विविधा प्रवृत्तिः स्यात् । तस्माद् वनिताभिर्वाता धर्मचर्चादिव्याजेन न विधेया । ताभिर्मनोरंजनेच्छा सुखावभासिनी मनोगतवासनापूर्तिरेव सदा वर्ज्या श्रमणैरितिभावः ॥7॥

उत्थानिका—अथानुचितकार्यं परिहरेदित्युपदिशति—

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण ।

अट्ठं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥8॥

टीका—जइ यदि लिंगरूवेण देवासुरनेन्द्रचक्रवर्तिमहामण्डलेश्वरादिना निर्वाण—मार्गभूतेनार्चितेन लिंगरूपेण ण न दंसणणाणचरित्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि उवहाणे उपधानानि अवश्यमेवाश्रयास्पदानि निःश्रेयसमार्गस्यैकपाथेयानि अर्थात् यतिर्यदि स्तत्रयं नाश्रयति तर्हि किं भवेत्? झायदि ध्यायति । कं कर्मतापन्नम् ? अट्ठं झाणं आर्तध्यानं इष्टवियोगानिष्टसंयोगपीडाचिन्तन—निदाननामानि । तेन किं ? अणंतसंसारिओ होदि अनंतसंसारीको भवति पञ्चपरावर्तनभवावर्ते वरीवृत्यते ॥8॥

उनसे सम्बन्ध का प्रथम कारण है । इससे ही साथ में उठना—बैठना आदि संसर्ग होता है । फिर बाद में हास्य, खेल, क्रीड़ा विहार, काम क्रीड़ा आदि होते हैं, फिर निरन्तर देखने की इच्छा बनी रहती है अथवा ‘पलोयण’ शब्द का दूसरा अर्थ ‘प्रलोभन’ भी लिया है । उनको प्रलोभन करने के लिए अनेक प्रकार की प्रवृत्ति होती है । इसलिए स्त्रियों से बातचीत धर्म चर्चा के छल से भी नहीं करना चाहिए । उनके साथ मनोरंजन की इच्छा मनोगत वासना की पूर्ति ही है, जिससे उत्पन्न सुख, सुखाभास है । यह इच्छा श्रमणों के लिए वर्ज्य है ॥7॥

उत्थानिका— अब अनुचित कार्यों को छोड़ो, इस प्रकार का उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(जइ) यदि (लिंगरूवेण) जिनलिंग के साथ (दंसणणाणचरित्ते) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को (उवहाणे) धारण नहीं करता है किन्तु (अट्ठं झाणं) आर्तध्यान को (झायदि) ध्याता है वह (अणंतसंसारिओ) अनन्तसंसारी (होदि) होता है ।

टीकार्थ—यदि देव, असुर, राजा, चक्रवर्ती, महामण्डलेश्वर आदि के द्वारा पूजित, निर्वाण मार्ग स्वरूप जिनलिंग से सम्यग्दर्शन ज्ञान—चरित्र जो कि निःश्रेयस मार्ग का एक मात्र पाथेय है और अवश्य ही आश्रय का स्थान है । उसका आश्रय न लेकर इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीडाचिन्तन, निदान नाम के आर्तध्यान को ध्याता रहता है, वह पञ्चपरावर्तन रूप संसार में घूमता हुआ अनन्त संसारी होता है ॥8॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत ये शिव हेतु प्यारे, मोही बने मुनि परन्तु इन्हें न धारें।
हैं आर्त ध्यान भर में मन को लगाते, संसार को अमित और अतः बनाते ॥8॥

उत्थानिका-अथान्यानि किमशोभनीयकर्माणि स विदधातीति व्याचष्टे
जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥९॥

टीका- जो यो मोक्षमार्गक्रियाचरणपराङ्मुखः। किं करोति ? जोडदि विव्वाहं योजयति विवाहं युवतीयमनेन युवकेन सहपरिणयेदिति मनसि योजयति। तेषां तिथिलग्नकुण्डलीगुणयोगान् संयुज्य शुभाशुभफलं निरूपयति। पुनश्च किम्? किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च कृषिः सस्यादिः, कर्म पशुपालनम्, वाणिज्यं व्यापारो वणिजां योग्यं कर्म क्रयविक्रयादि, जीवघातः समस्तारम्भकार्यम्। कृषिश्च कर्म च वाणिज्यं च जीवघातश्च कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातम्। पुनरपि च-शब्देन पूर्वोक्ताचरणं संग्राह्यम्। एवंविधव्यापारेषु संलग्नमानसानां वृत्तिमनुमनुते स्वहस्तेन वा योजयति स श्रमणः। केन स्वरूपेण ? लिंगिरूवेण महद्भिरनुष्ठितमर्हल्लिङ्गम् तद्यस्य वर्तते स लिङ्गी तेन रूपेण लिङ्गिरूपेण। तत् किं फलमश्नुते ? णरयं वच्चदि नरतं नरकं व्रजति। द्रव्यक्षेत्रकालभावभवैर्न रतिं रागमुपैति यत्र गत्वा तन्नरकं गच्छति। किं कुर्वन् ? पाओ करमाणो पापं नपुंसकलिङ्गे, प्राकृते लिङ्गभेदत्वात्। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापं तत् कुर्वाणः सन् महाव्रतानि समादाय तन्मर्यादातिक्रमे पापभाक् स्यात् ॥९॥

उत्थानिका-वह अन्य और कौन से अशोभनीय कर्मों को करता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ-(जो) जो मुनि (विव्वाहं) विवाह को (जोडदि) जोड़ता है (च) और (किसिकम्मवणिज्जजीवघादं) कृषि कर्म, व्यापार तथा जीव हिंसा को करता है, वह (लिंगिरूवेण) जिनलिंग के रूप में (पाओ करमाणो) पाप करता हुआ (णरयं वच्चदि) नरक को जाता है।

टीकार्थ-जो मोक्षमार्ग की क्रिया-आचरण से पराङ्मुख होकर, यह युवती इस युवक से ब्याही जाय, ऐसा मन में चिन्तन करता है, तथा उनकी तिथि, लग्न, कुण्डली, गुण, योगों को मिलाकर शुभ-अशुभ फल को बताता है। खेती आदि कृषि, पशुपालन रूप कर्म, वाणिज्य अर्थात् व्यापारियों के योग्य क्रय-विक्रय रूप कर्म, इन सबमें आरम्भ होने से जीवघात होता है, इसलिए इन व्यापारों में जिनका मन लगा रहता है उनकी वृत्ति की अनुमोदना करता है अथवा अपने हाथ से उन्हें सावद्य कार्यों में लगाता है, वह महापुरुषों के द्वारा धारण किए जाने वाले इस जिनलिंग से नरकों में उत्पन्न होता है। जहाँ पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव इनमें से किसी भी विषय में रति उत्पन्न नहीं होती है, उसे नरक कहते हैं। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करता है, उसे पाप कहते

मोही, विवाह अविवाहित का कराते, वाणिज्य जीव वध औ कृषि भी कराते।
निर्ग्रन्थ नग्न मुनि यद्यपि हैं तथापि, पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥९॥

उत्थानिका-पुरनपि श्रमणस्यायोग्यक्रियाकलापं प्रतिपादयन्नाह-

चोराण मिच्छवाण य जुद्धविवाहं च तिव्वकम्मेहि ।

जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥10 ॥

टीका-लिंगी जिनलिङ्गधृत् । किं करोति? **चोराण मिच्छवाण य जुद्धविवाहं च** चौराणां परद्रव्यहतां तस्कराणां च मिथ्यावादिनां चेत्यत्र षष्ठीलुक् तन्मध्ये युद्धं च विवाहं च योजयति । अथवा चौराणां युद्धं मिथ्यावादिनां विवाहमिति क्रमेण योज्यम् । तस्माद् युद्धसम्बन्धि-वार्तापि न कर्तव्या । युद्धं कदा भविष्यति; तत्र जयपराजयं कस्यापि पक्षस्य न विचिन्तयेत् श्रमणस्य सर्वत्र समभावत्वादौद्र-ध्यानासंभवत्वाद्वा । पुनरपि किं न कर्तव्यम्? **तिव्वकम्मेहि जंतेण दिव्वमाणो** तीव्रकर्मभिर्यैर्भूयसी हिंसा सम्पद्यते तत्कर्मभिः सह दिव्यमाणो दीव्यन् प्राकृतबलादात्मनेपदमिति । तथा यंत्रेण अक्षकर्पटादिना दीव्यन् क्रीडन् । क्व गच्छति? **णरयवासं गच्छदि** महान्धतमसाभिभूतं नरकवासं गच्छति यातीत्यर्थः ॥10 ॥

उत्थानिका-अष्टाविंशतिमूलगुणान्निधायपि किं कारणेन न सिध्यतीत्याख्यायते-

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्ममि ।

पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥11 ॥

हैं । महाव्रतों को ग्रहण करके उन व्रतों की मर्यादा का अतिक्रमण होने पर वह पापी कहलाता है ॥9 ॥

उत्थानिका- पुनः भी श्रमण के अयोग्य क्रियाकलापों को कहते हैं-

अन्वयार्थ-जो (**चोराणमिच्छवाण य**) चोरों और मिथ्यावादियों के (**जुद्धविवाहं च**) युद्ध और विवाह को जोड़ता है (**तिव्वकम्मेहि जंतेण दिव्वमाणो**) तीव्र हिंसक कार्यों और यंत्र से क्रीड़ा करता हुआ (**लिंगी**) वह जिनलिंगी (**णरयवासं**) नरकवास को (**गच्छदि**) जाता है ।

टीकार्थ- जिनलिंग धारण करने वाला वह श्रमण तस्करों और मिथ्यावादियों के बीच युद्ध और विवाह की योजना करता है । अथवा चोरों के बीच में परस्पर में लड़ना और मिथ्यावादियों का आपस में विवाह कराना, यह क्रम से लगाना चाहिए । इसलिए श्रमण को युद्ध सम्बन्धी वार्ता भी नहीं करनी चाहिए । युद्ध कब होगा, वहाँ किसकी विजय होगी, किसकी पराजय होगी, इस प्रकार किसी भी पक्ष के बारे में चिन्तन नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रमण का सभी में समभाव रहता है तथा श्रमण को रौद्रध्यान की संभावना नहीं होती है । जिनके द्वारा बहुत अधिक हिंसा हो ऐसे तीव्र कर्म के द्वारा यंत्र अर्थात् पाशा, कर्पट आदि के द्वारा जुआ खेलता है वह महान् अन्धकार से भरे नरक में जाता है, यह तात्पर्य है ॥10 ॥

उत्थानिका-अट्टाइस मूलगुणों को धारण करके भी किस कारण से सिद्धि नहीं होती है यह कहते हैं-

चोरों नृपों यदि परस्पर में लड़ाता, है पाप कार्य करता पर से कराता ।

तासादि खेल मुनि होकर खेलता है, सो आत्म को नरक में हि ढकेलता है ॥10 ॥

टीका-लिंगी जिनलिङ्गधृत्। यदि **वट्टमाणो** वर्तमानः सन्। केषु कार्येषु? **दंसणणाण-चरित्ते** दर्शनज्ञानचरित्रे। अष्टादशदोषरहितजिनदेवतदुपज्ञशास्त्रतद्विहिताचरणप्रवीणतपोधनेषु श्रद्धानं दर्शनमिति निगद्यते। प्रमाणनयैर्द्रव्यास्तिकायतत्त्वानां याथात्म्यावबोधो ज्ञानं विज्ञायते। निश्चयव्यवहाराभ्यां दयामूलस्याहिंसाधर्मस्याचरणं चरित्रं चिन्त्यते। दर्शनं च ज्ञानं च चरित्रं च दर्शनज्ञानचरित्रं द्वन्द्वत्वात्। तेषामाचारः प्रवृत्तिर्वा तस्मिन् दर्शनज्ञानचरित्रे। तद्रक्षणाय कुत्र प्रयतते? **तवसंजमणियमणिच्चकम्ममि** तपः संयमनियमनित्यकर्मणि; तत्र इच्छानिरोधनं तपः प्रोच्यते। प्राणिपीडापरिहर्तुकामस्य यन्मनः प्रणिधानं तत्संयमः।

तपः संयमात् कथं विश्लिष्यते? लक्षणभेदात्। तद्यथा-प्रवृत्तौ प्रवर्तमानोऽप्रमत्ततया मुनिः संयमीष्यते। अनशनादिमहातपसि प्रवर्तमानः तपस्वीर्यते। तपःकुशलेष्वपि संयमेऽनवधानवृत्तेरसंयमी स्यादिति भेदः। परिमितकालसंयमनायाभिसन्धिर्नियमः। षडावश्यकपरिपालनं नित्यकर्मैति। तपश्च

अन्वयार्थ-(लिंगी) जो जिनलिंगी (**दंसणणाणचरित्ते**) दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तथा (**तवसंजमणियमणिच्चकम्ममि**) तप, संयम, नियम और नित्य कर्म में (**वट्टमाणो**) प्रवर्तता हुआ (**पीडयदि**) दुःखी होता है, वह (**णरयवासं**) नरकवास को (**पावदि**) पाता है।

टीकार्थ-अठारह दोषों से रहित जिनदेव, उनके द्वारा कहे हुए शास्त्र तथा उसमें कहे हुए आचरण में प्रवीण तपोधनों में श्रद्धान करना दर्शन कहलाता है। प्रमाण और नयों के द्वारा द्रव्य, पंचास्तिकाय तथा तत्त्वों का याथात्म्य अवबोध ज्ञान कहलाता है। निश्चय और व्यवहार नय से दया मूलक अहिंसा धर्म का आचरण चारित्र कहलाता है। इन दर्शन, ज्ञान, चारित्र की रक्षा के लिए तप, संयम, नियम और नित्यकर्म में प्रवृत्ति की जाती है। वहाँ इच्छा का निरोध तप कहलाता है। प्राणी की पीड़ा का परिहार करने की इच्छा करने वाले का जो मनोयोग है, वह संयम होता है।

शंका-तप और संयम में क्या विशेषता है ?

समाधान-लक्षण भेद से दोनों में अन्तर है। वह इस प्रकार है-प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से प्रवृत्त हुआ मुनि संयमी कहलाता है। अनशन आदि महातपों में लगा हुआ मुनि तपस्वी कहलाता है। तप में कुशल होने पर भी संयम में यदि उसका चित्त नहीं लगा है तो वह असंयमी कहलाता है। यही इन दोनों में अन्तर है। भाव यह है कि अनशन आदि तपों को तपता हुआ भी यदि अप्रमत्त भाव से प्राणी पीड़ा का परिहार करते हुए प्रवृत्ति नहीं करता तो वह तपस्वी होते हुए भी असंयमी कहा जावेगा।

सम्यक्त्व ज्ञान चरणों व्रत पालनों में, आवश्यकों नियम संयम सत् तपों में।

निर्ग्रन्थ हो यदि मनो दुख मानता है, जाता अतः नरक सो अनजानता है ॥11॥

संयमश्च नियमश्च नित्यकर्म चैतेषां द्वन्द्ववृत्तेः तपःसंयमनियमनित्यकर्माणि तस्मिन्ननुष्ठानं तदिति । एवंविधं महदनुष्ठानं कुर्वाणोऽपि किं स्यात् ? **णरयवासं पावदि** नरकवासं प्राप्नोति । केन कारणेन ? **पीडयदि** पीडयति अन्तरङ्गे करुणाया अभावात्प्राणिनं पीडयति दुःखीकरोति । क्वचित् वट्टमाणो इति स्थाने बद्धमाणो इति पठ्यते । मानेन बद्धः बद्धमानः । गर्वितः सन् स लिङ्गी प्राणिनं पीडयति । संयमी भूत्वाऽपि पीडयति विरोधःस्यान्, भावसंयमाभावात् ।

अथवा दर्शनज्ञानादिकर्मणि प्रवर्तमानो निजात्मनि पीडयति दुःखीभवति बद्धमानत्वात् । तस्मादुपलगतबीजवत् सर्वं हि निष्फलत्वान्नरकवासमधिवसति ॥11॥

उत्थानिका-पुनश्च निकृतिबहुलकषायेण स श्रमणो नेत्याचष्टे-

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।

माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥12॥

टीका-सो स समणो श्रमणः लिङ्गानुरूपवृत्तपरिपालने सातत्यश्रमशीलः ण न भवति । तर्हि किं भवेत् ? **तिरिक्खजोणी** पशुवदाचरणचणः तिर्यग्योनिरेव । कस्मात् कारणात् ? **भोयणेसु रसगिद्धिं करमाणो** भोजनेषु खाद्यस्वाद्यलेह्यपेयरूपचतुर्विधाहारेषु रसगृद्धिं कुर्वाणो जिह्वालोलुपतया

किसी निश्चित काल तक संयम के लिए प्रतिज्ञा करना नियम है । छह आवश्यकों का पालन करना नित्यकर्म है । इस प्रकार के बहुत बड़े अनुष्ठान को करता हुआ श्रमण नरक में जाता है क्योंकि अन्तरंग में करुणा का अभाव होने से वह प्राणियों को पीड़ित करते हुए प्रवृत्ति करता है । संयमी होकर भी पीड़ा देता है, यह विरुद्ध कथन है ? नहीं, भावसंयम का अभाव होने से वह संयमी नहीं है । कहीं-कहीं पर 'वट्टमाणो' इसके स्थान पर 'बद्धमाणो' यह पाठ पढ़ा जाता है । जिसका अर्थ है कि वह मान से बंध कर अर्थात् संयम, तप आदि में गर्वित होता हुआ जीव हिंसा करता है । अथवा मानी होने से दर्शन, ज्ञान आदि कर्म में लगा हुआ भी अपनी आत्मा में दुःखी रहता है, इसलिए पत्थर में बोये बीज की तरह उसके सभी अनुष्ठान निष्फल होते हैं, जिससे वह नरक जाता है ॥11॥

उत्थानिका-पुनः माया कषाय की बहुलता से वह श्रमण नहीं होता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ-(**भोयणेसु**) भोजन में (**रसगिद्धिं**) रस की गृद्धता को (**करमाणो**) करता हुआ (**कंदप्पाइय**) कन्दर्प आदि भावना में (**वट्टइ**) प्रवर्तन करता है । वह (**माई**) मायावी (**लिंगविवाई**) लिंग का विनाशक (**तिरिक्खजोणी**) पशु है । (**सो समणो ण**) वह श्रमण नहीं है ।

टीकार्थ-जो लिंग के अनुरूप चारित्र का परिपालन करने में हमेशा श्रमशील हो, वह श्रमण

हो लोलुपी सरस भोजन का बना है, कामादि पाप भर में फलतः सना है । होता नहीं श्रमण वो व्यभिचारकर्ता, मायाभिभूत पशु है मद-मार-धर्त्ता ॥12॥

दुग्धमिष्टमोदकादिरसेषु लम्पटः सन् किं करोति ? कंदप्पाइय वट्टइ कन्दर्पादिकेषु वर्तते रसाधिक-
भोजनप्रभावात् । रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रितप्रजल्पः कन्दर्पः । आदिशब्देन कौत्कुच्यमौख्यकामकथा-
संलग्नतादिग्रहणं कर्तव्यम् । क्वचित् कान्दर्पकैल्विष्याभियोग्यदानवीसम्मोहीभावनाः परिग्राह्याः । तथा
चोक्तं मूलाचारे-

कंदप्पमाभिजोगं किव्विससम्मोहमासुरत्तं च ।

ता देवदुगईओ मरणम्मि विराहिए होति ॥

ये कन्दर्पादिभावनायां प्रवर्तमानास्ते श्रमणा मरणकाले सम्यक्त्वं विराधयन्तो देव-दुर्गतिमुपलभन्ते ।
तद्यथा-रागोद्रेकादनृतवचः प्रलयपन्नन्येषामप्यनृतमेव प्रतिपादयन्सभायामन्तः- करणे प्रसीदति स
कन्दर्पदेवेषु स्तुतिपाठककल्पेषूत्पद्यते ततस्त्याज्येयंभावना । मन्त्रतन्त्रयन्त्र-दानोच्चाटनवशीकरणादिविधानेन
नारिकेलफलात्पुष्पोद्भावनम्, चन्द्रदर्शनममावस्यायाम्, जलवृष्टिश्चाकाले, विभावयां
भूतक्रीडाविर्भावनम्, प्रतिष्ठित गृहस्थितबालानामनुगमनम्,
भूतभःस्थलसेनाध्यक्षमन्त्रिपरिषत्सदस्यनगराध्यक्षाद्यभिजनानां स्वीयपादेषु प्रणमनम् इत्यादिबहुविध-
कृत्यं स्वकीयैश्वर्यबलप्रतिष्ठासंपत्तिसुखगारवाशनरसादिप्राप्त्यर्थं धर्मप्रभावनार्थं वैयावृत्यनिमित्तं कौतुकाद्वा

होता है, किन्तु जो ऐसा नहीं करता है, वह पशु होता है क्योंकि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय रूप चार
प्रकार के आहारों में रस गृह्णी करता हुआ जिह्वा लोलुप होने से दूध, मिठाई, लड्डू आदि रसों में
लम्पट हो, कन्दर्प आदि भावनाओं में अधिक रस वाले भोजन के प्रभाव से प्रवृत्ति करने लगता है ।
राग के उद्रेक से हास्य मिश्रित बकवास करना कन्दर्प कहलाता है । आदि शब्द से कन्दर्प के साथ
कौत्कुच्य, मौख्य, काम कथा आदि में संलग्नता का ग्रहण करना चाहिए । अथवा आदि शब्द से
किल्बिष, आभियोगी, दानवी, सम्मोही भावनाओं का ग्रहण करना चाहिए ।

जैसा कि मूलाचार में कहा है-“कन्दर्पी, आभियोग्य, किल्बिषक, सम्मोह और आसुरी
वृत्ति मरण की विराधना करती है, जिससे देव दुर्गति होती है ।”

जो कन्दर्प आदि भावनाओं में प्रवर्तमान हैं, वे श्रमण मरणकाल में सम्यक्त्व की विराधना
करते हुए देव दुर्गति को प्राप्त होते हैं । वह इस प्रकार है- जो राग के उद्रेक से अनृतवचन कहता
हुआ तथा सभा में दूसरों को भी झूठ ही कहता हुआ मन में प्रसन्न होता है, वह स्तुति पाठक जैसे
कन्दर्प देवों में उत्पन्न होता है । इसलिए इस भावना का त्याग करना चाहिए । मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, दान,
उच्चाटन, वशीकरण आदि विधान से नारियल फल से फूलों को निकालना, अमावस्या में चन्द्रमा
को दिखाना, अकाल में जलवृष्टि करना, रात्रि में भूतक्रीड़ा प्रकट करना, प्रतिष्ठित गृह की
कन्याओं का अनुगमन करना, भूसेना अध्यक्ष, वायु सेना अध्यक्ष, थलसेना अध्यक्ष, मन्त्री,
लोकसभा, विधानसभा के सदस्य, नगर-अध्यक्ष आदि कुलीनजनों को अपने चरणों में झुकाना

दर्शनज्ञानचारित्राराधनां प्रणश्यति जिनाज्ञामुल्लङ्घ्यते च तत्फलेन वराहगजाजादि-
वाहनवाहकेष्वाभियोग्यदेवेषूत्पत्तिमर्हति ततो न कार्या भावनाप्येता। तीर्थङ्कर-जिनागमाचार्यसङ्घ-
सूत्रप्रत्यनीकवृत्या शीलाचारविनयवैयावृत्यपरिहीणा मायाविनस्त्रिदिवेन्द्रपरिषदि सदान्तेवासिनस्ते
श्रमणाश्चाण्डालवत् किल्बिषपदस्थानीया भवन्ति ततः श्रमणैरेता भावना न भाव्या। उन्मार्गोपदेशका
विपरीतमार्गप्रवर्तकास्तीर्थकरं मन्याः शुनीप्रष्ठलग्नश्वमोहवद् वेदोदयवश्याः स्वच्छन्दवर्तिनस्ते सम्मोहा
निम्नदेवेषु समुपजायन्ते तस्मादियं भावनापि वर्ज्या। गर्वयुक्तो वंचकः क्रोधी तपश्चारित्रानुष्ठाने
संकलेशवाननुबद्धवैरः सन्नबावरीषादिनिम्नासुरदेवेषूत्पत्तिमश्नुते ततश्चैता भावनाऽपि न भावनीयेति।
येन किं भण्यते ? माई मायावी। पुनरपि किम् ? लिंग-विवाई लिङ्गव्यपायी लिङ्गभङ्गी कथ्यते ॥12 ॥

उत्थानिका-अथ श्रामण्यभावाद्भ्रष्टः किं कुरुत इत्याख्यायते-

**धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरुपरूईसंतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥13 ॥**

इत्यादि बहुत प्रकार के कार्यों को अपना ऐश्वर्य, बल, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, सुख, गारव, भोजन, रस
आदि की प्राप्ति के लिए, धर्म प्रभावना के लिए, वैयावृत्ति के लिए अथवा कौतुक से करता है
तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना को नाश करता है, जिन आज्ञा का उल्लंघन करता है, इन
क्रियाओं के फल से सूकर, हाथी, बकरा आदि वाहन को वहन करने वाले आभियोग्य जाति के
देवों में उत्पन्न होता है। इसलिए यह भावना नहीं करनी चाहिए। तीर्थकर, जिनागम, आचार्य, संघ,
सूत्र के विपरीत वृत्ति से शील, आचार, विनय, वैयावृत्ति से रहित, मायाचार से युक्त होकर वे श्रमण
स्वर्ग के इन्द्रों की सभा में हमेशा चाण्डाल के समान अन्त में रहने वाले किल्बिष पद का स्थान पाते
हैं। इसलिए श्रमणों को यह भावना नहीं करना चाहिए। उन्मार्ग के उपदेशक, विपरीत मार्ग के
प्रवर्तक, अपने आपको तीर्थकर मानने वाले, कुक्कुरी के पीछे लगे कुत्ते के मोह के समान वेदोदय
के वशीभूत स्वच्छन्दवर्ती सम्मोही श्रमण निम्न जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं, इसलिए यह भावना
भी छोड़ देनी चाहिए। घमण्ड से युक्त, कपटी, क्रोधी, तप और चारित्र के अनुष्ठान में संक्लेश
करता हुआ, वैर बाँधने वाला अम्बावरीस आदि निम्न जाति के असुर देवों में उत्पन्न होते हैं,
इसलिए यह भावना भी नहीं भाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने वाला श्रमण लिंग को नाश करने वाला
मायावी होता है ॥12 ॥

उत्थानिका-श्रामण्य भावों से भ्रष्ट श्रमण क्या करता है, यह बताते हैं-

**लो भोजनार्थ सहसा बस भाग जाते, साधर्मि से कलह भी कर भात खाते।
विद्वेषपूर्ण रखते मुनि सन्त से हैं, वे दूर ही श्रमण हो शिवपंथ से हैं ॥13 ॥**

टीका-सो स पूर्वोक्तः **समणो** श्रमणः किं करोति ? **पिंडणिमित्तं धावदि** पिंडनिमित्तं धावति; पिंडमशनपानादि तन्निमित्तेन तदवाप्तये धावति ईर्यापथ-गमनमुल्लंघ्य सरति तद्गृहिणो गृहेऽहं प्रथमं गच्छामीति प्रणिधानात् । पुनश्च किम्? **कलहं काऊण पिंडं भुंजदे** कलहं विसंवादं तत्कृत्वा पिंडमशनं भुङ्क्ते । तस्मात् किं स्यात्? **अवरुपरूई संतो** अपरप्ररूपी सन् परमुत्कृष्टं लिङ्गं दैगम्बररूपमुच्यते तद्विपरीतमन्यथा भण्यते । तस्यापरस्य लिङ्गस्य प्ररूपणा तदनुप्रवर्तना यस्माद् भवेत् स अपरप्ररूपी । किं विशिष्टः? **जिणमग्गि ण होइ** जिनमार्गी न भवति किन्तु जिनाभास एवेति तात्पर्यः ॥13 ॥

उत्थानिका-मार्ग-विरोधिवृत्तेन चरन् किमन्यत् कृत्यं विदधातीति ब्रूते-

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं ।

जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥14 ॥

टीका- सो समणो स श्रमणः विहितक्रियां क्रियमाणो नग्नः । कथंभूतः? **जिणलिंगं धारंतो** जिनलिङ्गं धारयन् जिनेन्द्रेण भगवता यत् प्रोक्तं साधुविधानं तत्स्वीक्रियमाणोऽपि । को भवेत् ? **चोरेण व होइ** चौरैण इव भवति चौरैण सममिति । किं कारणम् ? **अदत्तदाणं गिण्हदि** अदत्तदानं गृह्णाति

अन्वयार्थ-(पिंडणिमित्तं) पिंड (भोजन) के निमित्त जो (धावदि) दौड़ता है (कलहं काऊण) कलह करके (पिंडं) जो पिंड को (भुंजदे) खाता है (अवरुपरूई संतो) वह विपरीत प्रवृत्ति करता हुआ (समणो) श्रमण (जिणमग्गि) जिनमार्गी (ण होइ) नहीं है ।

टीकार्थ- उस गृहस्थ के घर में मैं पहले जाऊँगा, इस प्रकार की भावना से अशन, पान आदि की प्राप्ति के लिए ईर्यापथ समिति का उल्लंघन करके दौड़ता है । आपस में विसंवाद करके भोजन करता है वह अन्य लिंग की प्ररूपणा करने वाला जिनमार्गी नहीं किन्तु जिनाभास है । उत्कृष्ट दिगम्बर रूप के विपरीत अन्य लिंग की प्ररूपणा अपरप्ररूपी कहलाती है ॥13 ॥

उत्थानिका- मार्ग विरोधी आचरण करता हुआ और अन्य क्या कार्य करता है, यह बताते हैं-

अन्वयार्थ-(अदत्तदाणं) बिना दिया दान जो (गिण्हदि) ग्रहण करता है (य) और (परोक्खदूसेहिं) परोक्ष में दूषण के साथ (परणिंदा) पर की निंदा (वि) भी करता है । (जिणलिंगं) जिनलिंग को (धारंतो) धारण करता हुआ भी (चोरेण व) चोर के समान (सो

निन्दा परोक्ष पर की करता बनाता, दोषी, प्रदत्त बिन दान स्वयं गहाता ।

निर्ग्रन्थ लिंग जिसने बस बाह्य धारा, सो चोर सा श्रमण है नहिं साम्य धारा ॥14 ॥

कमपि वस्तु परेषामपृष्ट्य विना दानं ग्रहणमदत्तादानमुच्यते। यतश्च तृतीयमहाव्रतस्यासादनाप्रसङ्गः प्रसज्यते। पुनश्च किम्? **परोक्खदूसेहिं परणिंदा वि य** परोक्षदूषणैः परनिंदा अपि च करोति परेषां पृष्ठमांसाशी स श्रामण्यभ्रष्टः एवेति तात्पर्यः। परनिंदाऽपि स्तेयमास्थाकर्तनात् ॥14 ॥

उत्थानिका—पुनरपि तस्य विचेष्टितं व्याचष्टे—

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।

इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥15 ॥

टीका—**सो समणो ण** स श्रमणो न। किं कुर्वन् ? **इरियावह धारंतो** ईर्यापथं आधारयन् प्राकृतबलादकारस्य लुक्। ईर्यापथसमितेः प्रतिज्ञामवगण्य संचरति। कथमितिचेत्? **उप्पडदि पडदि धावदि** पदं क्षिप्रमुत्थाप्योत्थाप्योच्चलति। उच्चलन् सन् कदाचिद् भूमौ पतति पुनरप्युत्थाय रहसा धावति। इत्यादिकमेवोताऽन्यदपि? **पुढवीओ खणदि** पृथिवीं षट्कायजीवाश्रयभूतां खनति। केन भेषेण? **लिंगरूवेण** जिनलिङ्गरूपेण। तेन किम्? **तिरिक्खजोणी** तिर्यग्योनिः पशुरेवेत्यर्थः ॥15 ॥

समणो) वह श्रमण (**होइ)** होता है।

टीकार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए साधु के आचरण को स्वीकार करता हुआ एवं शास्त्र में कही क्रियाओं को करता हुआ भी वह नग्न श्रमण चोर जैसा है, जो दूसरों की वस्तुएँ बिना पूछे ले लेता है क्योंकि वह तृतीय महाव्रत की आसादना करता है। दूसरों की पीठ पीछे निंदा करने वाला वह पृष्ठमांसभोजी कहलाता है, अतः वह श्रमणपने से भ्रष्ट होता है। परनिंदा भी चोरी है क्योंकि इससे निंदा करने वाला दूसरे की आस्था को कुतर देता है ॥14 ॥

उत्थानिका— पुनः उस श्रमण की चेष्टाएँ कहते हैं—

अन्वयार्थ—(**लिंगरूवेण**) जो जिन लिंग के साथ (**उप्पडदि**) उछलता है (**पडदि**) फिर धरती पर गिरता है (**धावदि**) दौड़ता है (**पुढवीओ**) पृथ्वी को (**खणदि**) खोदता है। (**इरियावह धारंतो**) ईर्यापथ को नहीं धारण करता हुआ (**तिरिक्खजोणी**) वह पशु है (**सो समणो ण**) वह श्रमण नहीं है।

टीकार्थ—ईर्यापथ को नहीं धारण करता हुआ, यहाँ प्राकृत लक्षण से अकार का लोप हुआ है। अर्थात् ईर्यापथसमिति की प्रतिज्ञा की अवमानना करके चलता है। वह कदमों को जल्दी-जल्दी

हैं खोदते अवनि को चलते दिखाते, हैं दौड़ते उछलते गिर भाग जाते।

ईर्यामयी समिति धारक, ना कहाते, होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥15 ॥

उत्थानिका-मोक्षमार्गस्यापरनामश्रमण्याभिधानस्य विपरीतः श्रमणो निष्पद्यते कृत्यमेवंविधमपि-
बंधे गिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।

छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥16 ॥

टीका- सो समणो ण स श्रमणो न। किं कुर्वाणः? **बंधे गिरओ संतो** परतन्त्रात्परेषामनुज्ञा एव बंधः तस्मिन् बंधे निश्चयेन रतिं कुर्वन् निरतः सन्। किं किं कुरुते? **सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि** सस्यं धान्यं तं खण्डयति द्विदलीकरोति तथा च वसुधां वसु धनं रत्नादिकं धारयतीति वसुधा तामपि खण्डयति। पुनश्च किम् ? **बहुसो तरुगण छिंददि** बहुशो बहुधा वा तरुगणं वृक्षसमूहं छिन्दति। तद्यथा-ये केचन जिनमन्दिरेषु निवसन्तः साधवो विरुद्धसङ्घानुसारिणः स्वकीयसङ्घाधिकारे सस्ययोग्यभूमिदानं स्वीक्रियमाणास्तत्र कृष्यादिकार्यं कुर्वाणाः सङ्घजीविकायै वसतिनिर्माणार्थं पुनश्च जीर्णोद्धारार्थमाहारदानाय वा प्रकल्पन्ते ते मूलसङ्घबाह्याआर्षमार्गविरुद्धाः श्रमणाभासाः प्रकीर्त्यन्ते। यतस्तन्मतानुसारिशिष्या बीजेषु जीवाभावं मन्यमानाः प्रासुकपरिकल्पना निरर्थकेत्युच्यमानाः शैत्यवारिणा स्नातवन्तः कृषिवाणिज्योपजीविनश्च प्रचुरपापं संचयन्तीति।

पृथ्वी से उठा-उठा कर उछलता है। कभी उछल करके भूमि पे गिरता है, पुनः उठकर फिर वेग से दौड़ता है। तथा षट्काय जीवों के आश्रयभूत पृथ्वी को खोदता है। जिनलिंग रूप में ऐसा करने वाला श्रमण पशु ही है ॥15 ॥

उत्थानिका-मोक्षमार्ग का दूसरा नाम श्रमण्य है, उसके विपरीत जो श्रमण है। वह इस प्रकार के कार्य भी करता है-

अन्वयार्थ-(**बंधे**) बन्ध में (**गिरओ संतो**) निरत रहता हुआ जो (**सस्सं**) फसल को (**तह य**) और उसी तरह (**वसुहं पि**) पृथ्वी को भी (**खंडेदि**) खोदता है। तथा (**बहुसो**) बहुत प्रकार के (**तरुगण**) वृक्ष समूह को (**छिंददि**) छेदता है। (**सो**) वह (**तिरिक्खजोणी**) पशु है (**समणो ण**) श्रमण नहीं है।

टीकार्थ-परतन्त्र होने से दूसरों की आज्ञा में रहकर उसी बन्धन में रति करता हुआ धान्य के द्विदल करता है तथा पृथ्वी को खंडित करता है। वसुधन को, रत्न आदि को कहते हैं उसे जो धारण करती है, वह वसुधा कहलाती है। वह बहुत प्रकार के वृक्षों को छेदता है। जो कोई विरुद्ध संघ का अनुसरण करने वाले साधु जिनमन्दिरो में रहते हुए अपने संघ के अधिकार में कृषि योग्य भूमि के दान को स्वीकार करते हैं, तथा फिर उस भूमि में संघ चलाने के लिए, वसतिका निर्माण करने के लिए पुनः उस वसतिका के जीर्णोद्धार के लिए अथवा आहारदान के लिए कृषि आदि कार्यो के करने वाले प्रतीति में आते हैं, वे मूलसंघ से बाह्य, आर्षमार्ग विरुद्ध, श्रमणाभास कहलाते

हिंसादि जन्य विधि बंध, नहीं गिनाता, खोदे धरा तरु लता दल को गिराता।

है छेदता श्रमण हो तरु के गणों को, हा! साम्य हीन, धरता पशु के गुणों को ॥16 ॥

ननु च विरुद्धसङ्घस्योत्पत्तिः श्रीकुन्दकुन्ददेवकाले कथं सम्भवेत् ? नैष दोषः, विरुद्धक्रियाचरण-चरास्तु सर्वकालवर्तिनः । ते हि कदाचिदैकत्रीभूय पृथग्नाम्ना सङ्घरूपेण व्यक्तीभवन्ति । स किं भण्यते? **तिरिक्खजोणी** तिर्यग्योनिर्हिताहितविवेकविकलत्वात् पशुरेव । यतश्च गृहिणोऽपि प्रयोजनमन्तरेण प्रमादचरितं नाचरन्ति किं पुनः श्रमणाः कृतकारितानु-मोदनमनोवचनकार्यैर्नवकोटिभिः सर्वारम्भन्यूनाः प्रभूतप्रयोजनेऽपि चिकीर्षन्तु हिंस्यकार्येषु ॥16 ॥

उत्थानिका-अथ निर्ग्रन्थश्रमणाय श्रामण्यापायकारणं कथयन्नाह-

रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि ।

दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥17 ॥

टीका-सो समणो ण स श्रमणो नास्ति दिगम्बरीभूय स्वं श्रमणं मन्यमानोऽपि । यः किमु कुरुते? **रागो करेदि** रागं कषायोद्रेकं करोति मनसि भावयति । **क्व ? णिच्चं** नित्यं सदाकालम् । **कं प्रति?** **महिलावग्गं** महिलावर्गं प्रति स्त्रीसामान्यविवक्षायां विवाहिताविवाहितस्वकीय-परकीयबालाबला-

हैं क्योंकि उस मत का अनुसरण करने वाले शिष्य बीज में जीव का अभाव मानते हैं, प्रासुक की परिकल्पना तो व्यर्थ की बातें हैं, ऐसा कहते हैं, ठंडे जल से स्नान करते हैं, कृषि, व्यापार से आजीविका करने वाले होते हैं, इसलिए प्रचुर पाप का संचय करते हैं ।

शंका-विरुद्ध संघ की उत्पत्ति कुन्दकुन्ददेव के समय में कहाँ संभव है ?

समाधान-यह कोई दोष नहीं क्योंकि विरुद्ध आचरण करने वाले तो हमेशा पाये जाते हैं । वे ही विरुद्ध आचरण वाले लोग कभी इकट्ठे होकर अपना अलग नाम से संघ बना लेते हैं ।

हिताहित विवेक से शून्य वह श्रमण पशु ही है क्योंकि जब गृहस्थ भी प्रयोजन के बिना प्रमाद पूर्ण आचरण नहीं करता है तो फिर जो श्रमण कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय की नवकोटि से सभी प्रकार के आरम्भ से रहित होते हैं, वे बहुत प्रयोजन होने पर भी कैसे इन हिंस्य कार्यों में प्रवृत्ति कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते हैं ॥16 ॥

उत्थानिका-अब निर्ग्रन्थ श्रमण के लिए श्रामण्य को नष्ट करने वाले कारण को कहते हैं-

अन्वयार्थ-(**णिच्चं**) जो सदा (**महिलावग्गं**) महिलाओं के समूह में (**रागो**) राग (**करेदि**) करता है (**परं च**) और दूसरों को (**दूसेदि**) दोष लगाता है (**दंसणणाणविहीणो**) दर्शन ज्ञान से रहित (**सो**) वह मुनि (**तिरिक्खजोणी**) पशु है (**समणो ण**) श्रमण नहीं है ।

टीकार्थ-दिगम्बर होकर अपने आपको श्रमण मानने वाला कषायों का उद्रेक करता है तथा

दोषावरोप करता मुनि सज्जनों में, आसक्त रात-दिन है महिला जनों में ।

सम्यक्त्व ज्ञान गुण से अति दूर होता, होता नहीं श्रमण वो पशु मूढ़ होता ॥17 ॥

शेषस्त्रीसमूहं प्रति मौख्योपवेशनविलोकनव्रतदानादिना तासां साहचर्यमपेक्षते। ननु च व्रतादिप्रदानं मोक्षमार्गं कथं प्रतिषिध्यते? सत्यमुक्तं भवता, यतो ह्याचार्यार्हकार्यं मुनीनां न कर्तव्यम्। सूरिसंघेस्थितोऽपि तदाज्ञां विना यो व्रतं दत्ते तदनुचितम्। सूरैर्गुणानां कथंचिन्मुनेर्मूलगुणाद्विन्नत्वात्। शिक्षादीक्षाप्रायश्चित्तादिप्रदानार्हाचार्यगुणसमूहनं पृथक्त्वेन प्रभाषितम्। तथा चोक्तं मूलाचारे-

पियधम्मो दिढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।

संगहणुगहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो॥

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।

चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि॥

किञ्च स्त्रीणां सङ्गतिरनेकविकल्पहेतुत्वात् सङ्घेऽव्यवस्थामूलत्वात् संसारकारणभूत - रागोत्पत्तिमत्त्वाच्च सर्वथा प्रतिषिद्धा। पुनश्च किम् ? परं च दूसेदि परमन्यं साधुवर्गं च दुष्यति। निर्दोषसाधुवृत्तिमतां क्वचिद्यदि कोऽपि दोषोऽल्पो द्रष्टस्तदा तं प्रकटीकरोति। इति वाच्यतां ब्रुवन्निजदोषं बहुलमपि गोपयति। अथवा परं निर्दोषप्राणिगणं गृहमेधिनं दुष्यति तेन ते प्राणिगणा भयात्प्रकामं विनयसेवाभक्त्यादिकं कुर्वते। इत्थं क्रियाविधाने श्रमणस्य का हानिः? दंसणणाणविहीणो

महिला वर्ग की मन में भावना सदा करता है। यहाँ महिलावर्ग से स्त्री सामान्य की विवक्षा में विवाहित, अविवाहित, अपनी, परायी, बाल, अबला समस्त स्त्री समूह को लिया है। उनके प्रति मौख्य, बैठना, देखना, व्रत, दान आदि से उनके साहचर्य की अपेक्षा करता है।

शंका-व्रत आदि प्रदान करना मोक्षमार्ग में निषिद्ध कैसे है ?

समाधान-आपने ठीक कहा, पर बात ऐसी है कि आचार्य के योग्य कार्य मुनियों को नहीं करना चाहिए। आचार्य संघ में स्थित होकर भी उनकी आज्ञा के बिना जो व्रत देता है वह अनुचित है। क्योंकि आचार्य के गुण, मुनियों के मूलगुणों से कथंचित् भिन्न होते हैं। शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि देने के योग्य आचार्य के विशेष गुणों को अलग से कहा गया है। जैसा कि **मूलाचार** में कहा है-

“आर्यिकाओं के आचार्य वे होते हैं, जिनको धर्म प्रिय हो, जो धर्म में दृढ़ हों, संविग्न हों, पापभीरु हों, संग्रह और अनुग्रह में कुशल हों, नित्य ही अपने समय को सारयुक्त रखते हों, गंभीर हों, जो चिर दीक्षित हों तथा जिन्होंने शास्त्र के अर्थ को जान लिया है।” दूसरी बात यह है कि स्त्रियों की संगति अनेक विकल्पों की कारण है, संघ में अव्यवस्था का मूल हेतु है, संसार का कारणभूत राग को उत्पत्ति कराने वाली है, इसलिए सर्वथा प्रतिषेध योग्य है। वह श्रमण अन्य साधुवर्ग को दोषी ठहराता है। निर्दोष सच्ची वृत्ति वाले साधुओं का कभी कोई छोटा भी दोष देखा तो उसे सबको बता देता है। इस प्रकार निन्दा करता हुआ वह अपने बहुत से दोषों को छुपाता है।

दर्शनज्ञानविहीनः, दर्शनं जिनदर्शनं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं; दर्शनं च ज्ञानं च दर्शनज्ञानं ताभ्यामपि विहीनो न्यूनो दर्शनज्ञानविहीनः स भवत्याज्ञाप्रत्यनीकवृत्तिमत्त्वात् । तेन किं स्यात्? **तिरिक्खजोणी** तिर्यग्योनिः पुरुषयोग्यतोपेतपौरुषापेतत्वात् पशुरेवेति ॥17॥

उत्थानिका—अथानन्तरं साधोरयोग्यकुत्सिद्भावान् प्रदर्शयन्नाह—

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।

आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥18॥

टीका—**सो समणो ण** स श्रमणो न जैनी दीक्षां विदधानोऽपि; किं प्रत्ययः? **पव्वज्जहीणगहिणं सीसम्मि** प्रब्रज्याहीनगृहिणि शिष्ये प्रब्रज्या जिनदीक्षा तस्याः हीनो रहितः प्रब्रज्याहीनः स चासौ गृही त्रिपुरुषार्थसेवकस्तस्मिन् प्रब्रज्याहीनगृहिणि शिष्ये विशेषणविशेष्य-सम्बन्धत्वात् । तत्र किम्? **बहुसो णेहं वट्टदे** बहुशो बहुविधः प्रकामं वा स्नेहः प्रीतिः रागो वा वर्तते तद्यथा-श्रमणाश्च केचन गुरुमन्याः प्रथमतो रागादिव्याजेन नियमादि-प्रदानेन सेवाकार्येषु चित्तं निधाय निजीकुर्वाणाः पश्चाद् वेश्मनि भुक्तिं विधायोपकुर्वन्तो नानेहलोकसम्बन्धिकृत्येषु सहकारिताशयेन रागवद्भिः सह रागादानप्रदानव्यापृतेः सुखानुभूतिमुपलभन्ते इति हेतुः । अपरञ्च परमागमेऽपि पञ्चविंशतिक्रियामध्ये क्रियैका समादानक्रियानाम्ना प्रोक्ता-“संयतस्य सतोऽविरतिं प्रत्याभिमुख्यमिति ।” सा च पापहेतुत्वान्निषिद्धा ।

अथवा पर शब्द से गृहस्थों का ग्रहण करना है । वह निर्दोष गृहस्थों को दोषी ठहराता है जिससे वे भय से उस श्रमण की खूब विनय, सेवा, भक्ति आदि करते हैं । ऐसा करने वाला श्रमण दर्शन अर्थात् जिन-दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान से हीन होता है क्योंकि वह जिनशासन की आज्ञा के विपरीत वृत्ति करने वाला होता है । इस प्रकार पुरुष की योग्यता सहित पौरुष से रहित होने से वह पशु कहलाता है ॥17॥

उत्थानिका—अब साधु के अयोग्य जो कुत्सित भाव हैं, उन्हें दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(**पव्वज्जहीणगहिणं**) दीक्षा रहित गृहस्थ (**सीसम्मि**) शिष्य में (**बहुसो**) बहुत प्रकार का (**णेहं**) स्नेह (**वट्टदे**) करता है (**आयारविणयहीणो**) आचार और विनय से हीन (**तिरिक्खजोणी**) वह पशु है (**ण सो समणो**) वह श्रमण नहीं है ।

टीकार्थ—जो जैनी दीक्षा को धारण करके तीन पुरुषार्थ करने वाले गृहस्थ शिष्य में अनेक प्रकार से प्रीति, राग रखता है, तद् यथा-कितने ही श्रमण ऐसे हैं जो अपने आपको गुरु मानते हैं, वे पहले तो रागादि के छल से नियम आदि देकर सेवा कार्यों में उसका मन लगाकर अपना बना लेते हैं, बाद में उसके घर में भोजन करके उसके ऊपर उपकार करते हैं, अनेक प्रकार के लौकिक

है धारते परम स्नेह असंयतों में, किंवा विमुग्ध निज शिष्य सुसंयतों में ।

आचार से विनय से च्युत हो रहे हैं, होते नहीं श्रमण वे पशु तो रहे हैं ॥18॥

तेन किं जायते ? **आचारविणयहीणो** आचारविनयहीनः मूलाचारविहिताचरणमाचारः, पूज्यपुरुषेषु नम्रवृत्तिर्विनयः तयोर्विहीनः सन्नुपर्युक्तकार्यं करोति । किं भवति ? **तिरिक्खजोणी** तिर्यग्योनिः पशुकल्पो भूत्वा विचरतीति तात्पर्यः ॥18 ॥

उत्थानिका—एवमाचरणमाचरन्नपि स क्व वसति तद्ब्रुवन्ति सूरयः—

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झमि वट्टदे णिच्चं ।

बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥19 ॥

टीका—सो स पूर्वोक्तक्रियाकुशलः । **समणो ण** श्रमणो न यद्यपि स **णिच्चं** नित्यं सर्वकाल एव **एवं सहिओ** एवं सहितः पूर्वोक्तगाथायां विहितक्रियासहितः श्रमणः **वट्टदे** वर्तते निवसति । क्व ? **संजदमज्झमि** संयतमध्ये लिङ्गानुसाराचरणकुशलसंयतानां मध्ये येन परेषां दृष्टिपथे तस्य प्रत्यनीकवृत्तस्य वृत्तं विरुद्धं न स्यात् । यद्यस्य श्रमणस्याचरणं मोक्षमार्गानुकूलं न भवेत्तर्हि संयतमध्ये कथं तस्यावस्थानमिति विचिन्त्य श्रावकाश्च नवश्रमणाश्च तस्य प्रश्रयसपर्यादि-कार्येषु समादरेण संलग्ना भवन्ति । स श्रमणोऽपि कुशलवृत्त्या प्रणमनवैयावृत्यपुस्तकपिच्छि-प्रभृत्युपकरणप्रदानेन सर्वेषामनुकूलो भूत्वा सुखेन सन्तिष्ठते ।

कार्यों में उनकी सहायता करके रागियों के साथ राग का ही आदान-प्रदान करने रूप व्यापार से ही सुखानुभूति को प्राप्त होते हैं । दूसरी बात यह है कि परमागम में भी पच्चीस क्रियाओं में एक समादान क्रिया कही है जिसका स्वरूप “संयत होकर भी असंयमी के प्रति अभिमुख होना है ।” यह क्रिया पाप हेतुकी होने से निषिद्ध है । मूलाचार के अनुसार आचरण आचार है, पूज्य पुरुषों में नम्रवृत्ति विनय है । वह श्रमण इन दोनों से रहित हो ऊपर कहे हुए कार्य करता है, इसलिए वह पशु के समान आचरण करता है ॥18 ॥

उत्थानिका— इस प्रकार आचरण करता हुआ भी वह कहाँ रहता है, आचार्यदेव यह बताते हैं—

अन्वयार्थ—(**मुणिवर**) हे मुनिवर ! (**एवं सहिओ**) इस प्रकार की क्रियाओं के साथ (**संजदमज्झमि**) संयतों के मध्य में (**णिच्चं**) नित्य जो (**वट्टदे**) रहता है (**बहुलं पि जाणमाणो**) वह बहुत शास्त्रों का जानकार होकर भी (**भावविणट्ठो**) भावों से विनष्ट है (**सो**) वह (**समणो**) श्रमण (**ण**) नहीं है ।

टीकार्थ—वह पूर्वोक्त क्रियाओं में कुशल श्रमण उन संयतों के बीच में रहता है, जो लिंग के अनुसार आचरण करने में कुशल होते हैं ताकि दूसरे लोगों की दृष्टि में इसका चारित्र विरुद्ध न

पूर्वोक्त दुर्गुण लिये मुनि संयतों में, सत् संघ में रह रहा गुणधारियों में ।
होता विशारद जिनागम में तथापि, होता नहीं श्रमण भावविहीन पापी ॥19 ॥

कथंभूतः सः ? बहुलं पि जाणमाणो बहुलमपि जानानः बहुश्रुतवानपि मुणिवर हे मुनिवर ! मुनिश्रेष्ठ !
भावविणट्टो भावविनष्टो वर्तते । बाह्यपरिग्रहं त्यक्त्वाऽभ्यन्तरपरिग्रहं यावन्न त्यजति तावद् भावभ्रष्टो
नामैव श्रमणो बाह्यरूपसामान्यात् ॥19 ॥

उत्थानिका—अथ तस्य भावविनष्टस्य क्रियां धिक् कुर्वन्ति भावप्रधानमुनयः—

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गमि देदि वीसट्टो ।

पासत्थ वि हु णियट्टो भावविणट्टो ण सो समणो ॥20 ॥

टीका— सो समणो ण स इत्थंभूतक्रियापरः श्रमणो नास्ति । किं तत् ? पासत्थ वि हु णियट्टो
पार्श्वस्थादपि हु निश्चयेन निकृष्टो जघन्य एव । यद्यप्यागमे भावशून्यश्रमणस्य संयमिनां मध्ये निवसतो
यथेष्टाचरणप्रवृत्तस्य भूयोऽपि गणनायकेन प्रबोधमानोऽपि निकाममवज्ञाचरणस्य पार्श्वस्थस्य निकृष्टतायाः
पराकाष्ठा गदिता । उक्तञ्च मूलाचारे—

वसहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ ।

पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥

लगे । “यदि इस श्रमण का आचरण मोक्षमार्ग के अनुकूल न हो तो संयतों के बीच यह कैसे रह सकता है” ऐसा सोचकर श्रावक तथा नये श्रमण उसकी विनय, सेवा आदि कार्यों में आदर से लगे रहते हैं । वह श्रमण भी अपनी कुशलता से नमन, सेवा, पुस्तक, पिच्छी आदि उपकरण प्रदान करके सभी के अनुकूल होकर सुख से रहता है । बहुत शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी हे मुनिवर ! वह भाव से विनष्ट रहता है क्योंकि बाह्य परिग्रह को छोड़कर भी अन्तरंग परिग्रह को जब तक नहीं छोड़ता है, तब तक वह भाव भ्रष्ट है । वह नाम से ही श्रमण है क्योंकि बाह्य रूप तो सामान्य है ॥19 ॥

उत्थानिका—उस भाव विनष्ट मुनि की क्रियाओं को भाव प्रधान मुनि धिक्कारते हैं—

अन्वयार्थ—(महिलावग्गमि) महिलाओं के समूह में (वीसट्टो) विश्वस्त होता हुआ उन्हें (दंसणणाणचरित्ते) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को (देदि) जो देता है (हु) निश्चित ही (पासत्थ वि) वह पार्श्वस्थ साधु से भी (णियट्टो) निकृष्ट है । (भावविणट्टो) भावशून्य (सो) वह (समणो) श्रमण (ण) नहीं है ।

टीकार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र महिलाओं को देता है, वह श्रमण होना तो दूर किन्तु पार्श्वस्थ श्रमण से भी निकृष्ट दर्जे का है । यद्यपि आगम में संयमियों के बीच रहने वाला, स्वेच्छानुसार आचरण करने वाला बार-बार गणनायक के द्वारा समझाने पर भी खूब अवज्ञा करने

विश्वास नारिजन में रखता, दिलाता, सम्यक्त्व ज्ञान व्रत भी उनको सिखाता ।

पार्श्वस्थ से अधिक निंद्य रहा तथापि, होता नहीं श्रमण वंद्य रहा कुपापी ॥20 ॥

अथवा पार्श्वस्थकुशीलसंसक्तापसंज्ञकमृगचरित्राभिधानाः पंचापि पार्श्वस्था अवसेया । तथाप्यत्र तस्मादपि जघन्यतां प्रतिपादयन् विरोधोऽवगन्तव्यः । स किं कर्मतामापद्यते ? **दंसणणाण चरित्ते देदि** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ददाति । कुत्र ? **महिलावग्गमि** महिलावर्गे । किं भवन् सन् ? **वीसट्ठो** विश्वस्तः सन् । स को भवति ? **भावविणट्ठो** भावेन विनष्टो भ्रष्टो भावरहितो भवति । न च भावरहितस्य मोक्षमार्गे क्वचिदप्यवस्थानम् । दर्शनज्ञानचारित्राण्यपि महिलावर्गे किं न दातव्यानीति पूर्वमेव प्रोक्तम् । तत्र द्रष्टव्यम् ॥20॥

उत्थानिका—अथ दुराचरणस्य पराकाष्ठा मुल्लङ्घयितुकामस्य विचेष्टितमुपसंहरन्नाह—

पुंश्चलिघरि जसु भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।

पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो समणो ॥21॥

टीका—**सो समणो ण** स श्रमणो न । कुतः ? **भावविणट्ठो** यतश्च मोक्षमार्गोपयोगि—भावरहितस्ततः । तर्हि कञ्चिद् भावमश्नुते ? **बालसहावं पावदि** बालस्वभावं प्राप्नोति । यथा बालको ह्युचितानुचित—विवेकमजानन् भूयोऽपि ताड्यमानः स्वभावादेव यद्यदनिष्टं तत्तदेव व्यवहरति तथैव श्रमणाभिधानः

वाला भाव शून्य पार्श्वस्थ श्रमण निकृष्टता की पराकाष्ठा कहा गया है ।

जैसा कि **मूलाचार** में कहा है—“वसतिकाओं में बँधा हुआ अथवा उपकरण बनाने वाला, श्रमणों के पार्श्व/निकट में रहने वाला पार्श्वस्थ नाम का होता है ।”

अथवा यहाँ पर पार्श्वस्थ शब्द से पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक, मृगचारी ये पाँचों ही नाम पार्श्वस्थों के जानना चाहिए । फिर भी यहाँ उस पार्श्वस्थ से भी जघन्यता का प्रतिपादन किया है । इसमें कोई विरोध नहीं है । कारण यह है कि वह महिलावर्ग में विश्वस्त होता हुआ उन्हें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र देता है । वह भावशून्य श्रमण दर्शन, ज्ञान, चारित्र महिलाओं को न देवे इसका कारण पूर्व में गाथा 17 की टीका में स्पष्ट किया है । सार यह है कि भावशून्य श्रमण का मोक्षमार्ग में कोई स्थान नहीं है ॥20॥

उत्थानिका—अब दुराचरण की पराकाष्ठा को उल्लंघन करने वाले की चेष्टाओं का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(**जसु**) जो (**पुंश्चलिघरि**) व्यभिचारिणी स्त्री के घर पर (**भुंजइ**) आहार करता है (**णिच्चं**) उसकी हमेशा (**संथुणदि**) स्तुति करता है । (**पिंडं**) और अन्न पान करता है (**भावविणट्ठो**) भाव से विनष्ट (**सो समणो**) वह श्रमण (**ण**) नहीं है ।

आहार लेत व्यभिचारिणि के यहाँ हैं, शंसा करें स्तुति करें उसकी अहा है ।

वे बाल अज्ञ निज भाव-विहीन पापी, होते नहीं श्रमण, लिंग धरें तथापि ॥21॥

सन् स मुनिरपि बालवदज्ञानस्वभावमापद्यते । कः श्रमणः? जसु यः भुञ्जइ भुङ्क्ते भिक्षावृत्या भोजनमत्ति ।
 क्व ? पुंश्चलिघरि पुंश्चलीगृहे “पुनर्भूः पुंश्चली खला” इत्यभिधानात् व्यभिचारिणी वेश्यास्त्री
 पुंश्चलीनाम्ना परिग्रह्यते । पुं पुमान् पुरुषस्तं पुरुषस्वाभावाच्चालयति सा पुंश्चली व्युत्पत्तेर्व्याख्यायते ।
 तेन सौन्दर्यप्रमुखा वचनदानकुशला विलसन्नयना बाला वाऽबाला वा दुष्टा दुश्चरित्रा पुंश्चलीति नाम्ना
 ग्राह्या येन येन मनो मोमुह्यते । ततश्च किम्? णिच्चं संश्रुणदि नित्यं तां संस्तौति । प्रशंसनीयवाग्जालेन
 स्तुतिं वितनुते । तेन किं भवति? पिंडं पोसए पिंडं पुष्पाति । पिंडमन्नपानं स्वमनोऽभिलषितं शरीरं वा
 तं पुष्पाति मुहुर्मुहुस्तद्गृहेऽशनमश्नुते । ततः सर्वा हि क्रिया एताः श्रामण्यभावस्य विरुद्धत्वात्परित्याज्या
 इति स्मरणीयाः ॥21॥

उत्थानिका—अथ श्रीकुन्दकुन्ददेवैर्मुनिमनस्स्तम्भनायेह परत्र सुखप्रदानाय कुटिलान्तःकरणचेष्टितं
 कलौ सम्भावितदुर्भावविभावभावविलासं संपाद्य लिङ्गप्राभृतविरचनव्याजेनान्त्यगाथा निगदिता—

**इय लिंगपाहुणमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं ।
 पालेहि कट्टसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥22॥**

टीकार्थ—मोक्षमार्ग के उपयोगी भावों से रहित होने से वह श्रमण नहीं है किन्तु बाल स्वभाव
 को प्राप्त होता है । जैसे बालक उचित और अनुचित के विवेक को नहीं जानता हुआ बार-बार
 ताड़ित करने पर भी स्वभाव से ही जो-जो अनिष्ट है, उसी-उसी को करता है । इसलिए श्रमण नाम
 वाला होकर भी वह बालक के समान अज्ञान स्वभाव को प्राप्त करता है । वह श्रमण भिक्षा वृत्ति
 से पुंश्चली अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ भोजन करता है । पुरुष को जो अपने स्वभाव से
 विचलित कर देती है, वह पुंश्चली कहलाती है । इसलिए सौन्दर्य में मुख्य, वचन प्रदान करने में
 कुशल, विलासी नेत्रों वाली, बाला हो या वृद्ध जिस जिससे मन मोहित हो ऐसी दुष्ट और दुश्चरित्र
 वाली स्त्री पुंश्चली शब्द से ग्रहण करना चाहिए । वह प्रशंसात्मक वाग्जाल से उसी की स्तुति करता
 है । बार-बार उसी के घर में भोजन करता है । इस प्रकार अन्नपान को अथवा शरीर को पुष्ट करता
 है । अन्नपान की पुष्टि से तात्पर्य अपने मन के इच्छित भोजन से है । इसलिए श्रामण्य भाव से
 विपरीत होने से इन सब क्रियाओं को छोड़ना चाहिए, यह स्मरणीय है ॥21॥

उत्थानिका—श्री कुन्दकुन्ददेव ने लिंगपाहुड कहने के बहाने मुनि के मन को एकाग्र करने
 के लिए, इस लोक तथा परलोक में सुख देने के लिए मन की कुटिल चेष्टाओं को तथा कलिकाल
 में संभव होने वाले दुर्भाव, विभाव भावों के विलास को कहकर अन्तिम गाथा को कहा है—

अन्वयार्थ—(इय) इस प्रकार (इणं) इस (लिंगपाहुडं) लिंगपाहुड गत (सव्वं धम्मं)

यों लिंग प्राभृत रहा मुनिलिंग प्यारा, सर्वज्ञ ने यह कहा हमको सुचारा ।
 जो भी इसे यतन से यदि पाल पाता, औचित्य ! स्वीय परमोत्तम धाम जाता ॥22॥

टीका-इय इति **लिङ्गपाहुडमिणं** लिङ्गप्राभृतमिदम् । लिङ्गस्य जिनलाञ्छनस्य निर्वाण-मार्गस्य व्याख्यानं स्वरूपं यस्मिन् प्रकृष्टेनाभृतं तं इदं प्रत्यक्षम् । **देसियं** देशितः कथितो वा । **सव्वं धम्मं** सर्वो धर्मः । कैर्मनुष्यैः ? **बुद्धेहि** बुद्धैर्गणधरादिदेवैस्तं धर्मं यो **कट्टुसहियं** कष्टसहितं **पालेहि** पालयति । तावद्धर्मो हि कष्टसहितोऽनादिवासनावासितमनसः संसृतेः पृथक्करणात् । तथापि यो धीरः साधयति धर्मं निष्कपटतया **सो** स श्रमणः **उत्तमं ठाणं** उत्तमस्थानं परमोत्कृष्टमोक्षस्थानं सप्तपरमस्थानेषूत्तमस्थानं **गाहदि** गहते लभते इति सर्वमनवद्यम् ॥22 ॥

इति श्री कुन्दकुन्ददेवविरचितलिङ्गप्राभृतस्य मुनिमनोरञ्जयित्री आचार्य-
श्री विद्यासागरशिष्यमुनिप्रणम्यसागरविरचिता संस्कृतभाषायां नन्दिनीटीकेयं समाप्ता ॥

समस्त धर्म को (बुद्धेहि) गणधर परमेष्ठी ने (देसियं) कहा है । (कट्टुसहियं) कष्ट के साथ (पालेहि) जो इसका पालन करता है (सो) वह (उत्तमं ठाणं) उत्तम स्थान अर्थात् मोक्ष को (गाहदि) पाता है ।

टीकार्थ-जिन का चिह्न स्वरूप निर्वाण मार्ग का व्याख्यान जिसमें अच्छी तरह किया गया हो, वह गणधरादि देवों के द्वारा यह समस्त धर्म कहा है, उसे कष्ट सहित जो पालन करता है, वह सप्त परम स्थानों में उत्तम स्थान मोक्ष को प्राप्त करता है । अनादि वासना से वासित मन को संसार से पृथक् करना कष्ट सहित होता है । यही धर्म है । फिर भी जो धीर ऐसे धर्म को निष्कपट भाव से साधता है, वही निर्वाण प्राप्त करता है ॥22 ॥

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव विरचित लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ की
मुनिमन को रंजायमान करने वाली आचार्य श्री विद्यासागर जी के शिष्य
मुनि प्रणम्यसागर विरचित यह नन्दिनी टीका समाप्त हुई ।

यह नन्दिनी टीका नेमावर ग्राम स्थित 'सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र' में वर्षायोग के दौरान ईसा सन् 2002 में लिखी गयी । फिर ईसा सन् 2007 में श्री सम्मेद शिखर यात्रा में ब्यौहारी से चलकर जनकपुर ग्राम में श्री महावीर जिनालय में प्रवास के समय पूर्ण हुई है ।

लिङ्गपाहुड-शब्दकोश

इ

इय लिङ्गपाहुडमिणं, 22

उ

उप्पडदि पडदि धावदि, 15

ए

एवं सहिओ मुणिवर, 19

क

कलहं वादं जूवा, 6

काऊण णमोकारं, 1

कंदप्पमाइय वट्टइ, 12

ग

गिण्हदि अदत्तदाणं, 14

च

चोराण मिच्छवाण, 10

ज

जो जोडदि विव्वाहं, 9

जो पावमोहिदमदी, 3

ण

णच्चदि गायदि तावं, 4

द

दसंणणाणचरित्ते, 11, 20, 8

ध

धम्मणेण होइ लिङ्गं, 2

धावदि पिंडणिमित्तं, 13

प

पव्वज्जहीणगहिणं, 18

पाओपहदभावो, 7

पुंश्चलिघरि जसु, 21

ब

बंधे णिरओ संतो, 16

र

रागो करेदि णिच्चं, 17

स

सम्मूहदि रक्खेदि य, 5

परिशिष्ट-2

॥श्री जिनाय नमः॥

महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी कृत हिन्दी पद्यानुवाद

लिंग-प्राभृत

अर्हत् सिद्ध उपास्य हमारे उनको शीघ्र झुकाता हूँ।
श्रमण लिङ्ग पाहुड को हिन्दी में बतलाता हूँ॥1॥

लिङ्ग बिना न धर्म हो लेकिन लिङ्ग मात्र ही धर्म नहीं।
चित्त वृत्ति वेषानुकूल हो वस्तुतया हो धर्म वही॥2॥

ले जिनजी का लिङ्ग अधम जो पापोपार्जन करता है।
वही लिङ्ग को हंसी करवा कर नारदपन को धरता है॥3॥

लिङ्गी होकर नाच गान करता है वाद्य बजाता है।
वह तो पशु नहीं पशु ही है केवल पाप बढ़ाता है॥4॥

आत रता युत वस्त्रादिक चीजों पर ममत्व लाता है।
वह तो साधु नहीं पशु ही है केवल पाप कमाता है॥5॥

साधु कहा कर धूत क्रीडा चुगली आदिक करता है।
वह नरकों में जाकर अपनी करणी का फल भरता है॥6॥

साधु कहाकर भी जो पापी रखता निकट सदा दासी।
उसके वारे में क्या कहना वह तो अवश्य भववासी॥7॥

दर्शन बोध वृत तीनों इन बातों का न विचार करे।
विषयाशा वश हो अनन्त भव मूलक आर्तध्यान धरे॥8॥

औरों का विवाह करवा देने में ही जो लगा रहे।
खेती बाड़ी वाणिज्यादिक करने की भी बात कहे॥9॥

खेल तमासा झगडा टंटा आदिक जो कि किया करता।
घोरारम्भी साधु यहाँ से जा नरकों में दुःख भरता॥10॥

दर्शन बोध वृत तप संयम नियमों में विपत्ति माने।
मुनि होकर भी वह नरकों में जावे स्वत्व न पहिचाने॥11॥

भोजन में लोलुपता रखकर काम भाव का वर्द्धक हो।
वह मायावी कैसा मुनिवर उसको पशु तुल्य कहो॥12॥

खाने के बारे में जो नर कलह करे वह साधु नहीं।
इन्द्रिय दमन नहीं हो पाया कैसी फिर साधुता रही॥13॥

बिना दिये परधरन का लेने वाला साधु चोर जैसा।
जिनमत का धारण करने वाला वह तो होवे कैसा॥14॥

ईर्या पथ संशोधन करके जहाँ चालना बतलाया।
उछल कूद करने वाले में कैसा साधु पना आया॥15॥

भूमि खनन कण कण्डन तरु सच्छेदनादि में प्रवृत हो।
दोष नहीं कुछ भी गिनकर जो वह कैसा फिर साधु कहो॥16॥

महिलावों के साथ सदा अनुराग भरी बातें करता।
खुद फिर इतर साधुवों पर जो विना हुये दूषण धरता॥17॥

दर्शन बोध विहीन और आचार विनय से शून्य सदा।
अव्रतियों का ही स्नेही वर नर पशु हो क्या साधु कहा॥18॥

इस प्रवृत्ति युत बहुज्ञ को भी मुनियों ने है मूर्ख गिना।
यद्यपि हो मुनियों में रहता मुनि कैसा वह भाव बिना॥19॥

रत्नत्रय की महिलावों में जो पूर्ति बतलाता हो।
यों उनके मन को खुश कर अपने मन को बहलाता हो॥20॥

वह अज्ञानी मुनि कैसा जो कुलटा की स्तुति करता हो।
उसके घर पर भोजन कर यों स्वयं उदर को भरता हो॥21॥

साधु वेश के बारे में यह बात भली बतलाई है।
इसे याद रख धर्म गहा उसने उत्तम गति पाई है॥22॥

लिङ्गपाहुड (गाथाओं का मूल पाठ)

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥1॥

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥2॥

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेतूण जिणवरिंदाणं ।
उवहसइ लिंगिभावं लिंगं णासेदि लिंगीणं ॥3॥

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥4॥

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥5॥

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगरूवेण ॥6॥

पावोपहदभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥7॥

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण ।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥8॥

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥9॥

चोराण मिच्छवाण य जुद्धविवाहं च तिव्वकम्मेहि ।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥10॥

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥11॥

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥12॥

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं ।
अवरुपरूईसंतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥13॥

गिणहदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं ।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥14॥

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥15॥

बंधे णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि ।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥16॥

रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥17॥

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥18॥

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं ।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥19॥

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥20॥

पुंश्चलिघरि जसु भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो समणो ॥21॥

इय लिंगपाहुणमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं ।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥22॥

परिशिष्ट-4

लिंगप्राभृतः

नन्दिनी टीका में प्रयुक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ

जहजाधरूवजादं, 1	–	प्रवचनसार, 217
अरसमरूपमगंधं, 2	–	समयसार, 54
दिक्खाकालाईयं, 2	–	भावपाहुड, 110
इत्थिकहा इत्थिसंसंग, 7	–	प्रतिक्रमणपाठ
कंदप्पमाभिजोगं, 12	–	मूलाचार, 2/63
पियधम्मो दिढधम्मो, 17	–	मूलाचार, 103
गंभीरो दुद्धरिसो, 17	–	मूलाचार, 184
संयतस्य सतोऽविरतिं, 18	–	सर्वार्थसिद्धि, 6/5
वसुहीसु य पडिबद्धो, 20	–	मूलाचार, 7, टि. पृ. 437
धम्मो दया विसुद्धो, 2	–	बोधपाहुड, 25
रयणत्तयं च धम्मो, 2	–	कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478
खमादि भावो य, 2	–	कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478
दंसणमूलोधम्मो, 2	–	दर्शनपाहुड, 2
वत्थुसहावो, 2	–	कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478

टीकान्तर्गत व्याकरण सूत्र

- जम्हा पेदर्हि पुदं फुउं तम्हा पाहुडं, 1 - चूर्णिसूत्र, 86
फोः परस्पर नमस्कारे, 1
आदेस्तु, 1
तुमन्तुआण तूणाः क्त्वः, 1
ण शामः, 1
क्त्वा सुपोरन्तु सुणात्, 1
डीप्प्रत्यये, 2